जिस प्रकार मेरे कविता लिखने का एक रहस्य है, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में काम करने का इतिहास भी। जन्म मेरा कविता करने के लिए ही हुआ था, पर एक दिन अंतर के गुहा-द्वार पर जब किसी ने भारी शिला रख दी, तब वह भावधारा भीतर ही अवरुद्ध रह गई। आलोचक मैं जन्म से हूँ नहीं, पर जीवन में ऐसे कारण बराबर उपस्थित होते रहे जिनसे आलोचना का पथ मेरे लिए निरंतर प्रशस्त होता चला गया। एम० ए० करने के उपरांत जब १९३८ और १९४३ के मध्य क्वींस कॉलेज बनारस, आगरा कॉलेज आगरा और गोकुलदास गर्ल्स कॉलेज मुरादाबाद में हिंदी के लेक्चरर की स्थिति से मैंने काम किया तो आधुनिक हिंदी साहित्य के बहुत से ग्रंथों पर कुछ न कुछ कहना पड़ता था। उन लेखों ने १९४३ में 'खड़ी बोली के गौरव ग्रंथ' का रूप धारण किया। महादेवी जी की कविता तो मुझे उसी समय से प्रिय थी जब मैं इंटरमीडिएट का विद्यार्थी था। इंटर में मेरे विषयों में से एक फ़ारसी भी थी। एक दिन मैं अपने अँगरेज़ी के अध्यापक श्री महेश प्रसाद शुक्ल के, जो आजकल इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अँगरेज़ी विभाग में हैं, बंगले पर गया। उन्होंने महादेवी जी के कुछ गीत मुझे सुनाए। पता नहीं फिर क्या हुआ कि मैंने फ़ारसी छोड़ दी और हिंदी ले ली। यह सन १९३२ की बात है। आगरा कॉलेज में आने पर 'साहित्य संदेश' में महादेवी जी पर व्यवस्थित रूप से कुछ लिखने का अवसर मुझे मिला। उन लेखों के पूरा होने पर मैं इलाहाबाद आया। महादेवी जी से भेंट हुई, पर केवल विदा माँगते समय उन्हें मेरे नाम का पता चला। इस प्रकार १९३२ में मैं उनके काव्य से प्रभावित हुआ और अनेक बार इच्छा होने पर भी १२ वर्ष की लंबी अवधि के उपरांत १९४४ में प्रथम बार मुझे उनके दर्शन हुए। उसी वर्ष 'महादेवी की रहस्य-साधना' प्रकाशित हुई।

१९४३ के उपरांत जीवन बिखर सा गया। कभी किसी पत्र का संपादन किया, कभी फ़िल्म-जगत में काम खोजने बंबई चला गया, कभी प्रांतीय सचिवालय में नौकरी की और कभी कुछ नहीं किया। पर इस सारी अव्यवस्था के बीच एक बात बनी रही—वह यह कि प्रत्येक स्थान पर उच्च कक्षाओं की कुछ विद्यार्थिनियों को साहित्य के अध्ययन में सहायता देने का काम मुझे मिलता रहा। ऐसे स्थानों पर काव्य के मर्म को समझाने के लिए केवल अर्थ बतलाने और बोलने से काम नहीं चलता था, बीच बीच में कुछ लिखवाना भी पड़ता था। उसमें से जितनी भी और जिस रूप में संभव हो सकी है मेरे विद्यार्थियों ने पर्याप्त सामग्री मेरे पास भेज दी है। उसे एक व्यवस्था देकर मैं धीरे धीरे आपके सामने रख रहा हूँ।

इस प्रकार आलोचना के क्षेत्र में अब तक जो लिखा गया वह अनायास और सहज भाव से। मैं आलोचक हूँ और आलोचना की कला जानता हूँ ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया। 'हमारे कवि' मेरा तीसरा समीक्षा-ग्रंथ है जिसे १० भागों में प्रकाशित करने का मेरा विचार है—

१

चंद बरदाई

विद्यापति

कबीर

२

जायसी

सूरदास

तुलसीदास

९

बच्चन

रामकुमार

नरेन्द्र

अंचल

१०

सुभद्रा कुमारी चौहान

सुमित्रा कुमारी सिनहा

तारा पाँडे

होमवती

विद्यावती 'कोकिल'

चकोरी

शांति एम० ए

—मानव

इलाहाबाद

अगस्त, १९४९

क्रम

चंद बरदाई

चंद बरदाई का जन्म संवत् १२०५ में लहौर में हुआ। इनके पिता का नाम राव वेण था। राव वेण अजमेर के चौहानों के पुरोहित थे, इसीसे चंद को अपने पिता के साथ राजकुल के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। चंद भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। बाल्या-काल से ही ये प्रतिभाशाली सिद्ध हुए और शीघ्र ही इन्होंने भाषा, साहित्य, व्याकरण, छंद, पुराण, ज्योतिष आदि पर अधिकार प्रदर्शित किया। अजमेर के अधिकारी और दिल्ली के सम्राट् पृथ्वीराज की दृष्टि को इन्होंने आकर्षित किया और ये केवल राज्य-कवि ही नहीं घोषित हुये, महाराज के सम्मति-दाता और मित्र भी बन गये। चंद कोरे कवि ही नहीं थे। अस्त्र-शस्त्र की विधिवत् शिक्षा भी इन्होंने प्राप्त की थी और आक्रमणों के समय वे सदैव सेना के साथ रहकर अपने रण-कौशल का परिचय देते थे। दुर्गा के ये भक्त थे और उन्हीं के अनुग्रह-दान से अपने काव्य में इन्हें विशेष सफलता मिली।

चंद बरदाई के दो विवाह हुए। पहली पत्नी का नाम कमला और दूसरी का गौरी था। उनके ११ संतानें हुईं जिनमें १० लड़के और १ लड़की थी। चंद के पुत्रों में जल्हचंद या जल्हण बड़ा प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध है कि जैसे बाण के पुत्र ने कादंबरी का उत्तरार्द्ध को पूर्ण किया था, उसी प्रकार जल्हण ने रासो के अंतिम भाग की पूर्ति की —

रासो जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों की खोज में राजपूताने का भ्रमण किया।

इस यात्रा में नानूराम नामक एक भाट से शास्त्रीजी की भेंट हुई। नानूराम ने अपने को चंद का वंशज बतलाया और चंद के समय से अपने समय तक एक वंशावली शास्त्रीजी को दी जो पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में रक्षित है। इससे चंद के केवल दो पुत्रों का पता चलता है—एक गुणचंद दूसरे जल्लचंद का। गुणचंद की किसी संतान का उल्लेख वंशावली में नहीं है, पर जल्ल की वंश-परम्परा पाई जाती है।

चंद की वंश-परम्परा का दूसरा पता सूरदास की 'साहित्य लहरी' से लगता है जिसके अनुसार स्वयं सूरदास चंद के वंशज ठहरते हैं। इसमें पहले एक यज्ञ से 'ब्रह्मराव' उत्पन्न हुए जिनका नामकरण संस्कार स्वयं ब्रह्मा ने किया और जिन्हें दूध देवी ने पिलाया। उन्हीं ब्रह्मराव के उज्ज्वल वंश में हमारे चंद उत्पन्न हुए।

इस प्रकार एक ओर नानूरामजी और सूरसारावली की वंशावलियाँ प्रस्तुत की जाती हैं जिनसे चंद पृथ्वीराज के कृपापात्र और स्नेही ठहरते हैं। नानूरामजी का कहना है कि पृथ्वीराज ने जो नागौर बसाया था वहाँ बहुत सी भूमि चंद को दी थी जहाँ उनके वंशज अभी तक हैं। सूरसारावली में भी स्पष्ट लिखा है—भूप पृथ्वीराज दीन्हो तिन्हें ज्वाला देश। दूसरी ओर अनेक विद्वान् जिनमें प्रमुख राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा हैं, चंद को न पृथ्वीराज का समसामयिक मानते हैं और न रासो को उस काल की रचना। अतः इस दृष्टि से चंद का पृथ्वीराज के दरबार में आना, उनका मित्र होना, उनके साथ युद्धों में सम्मिलित होना, गोर में शब्दवेधी बाण द्वारा मुहम्मद गोरी की हत्या होने पर महाराज और चंद का एक दूसरे के कलेजे में छुरी मारकर आत्म-हत्या कर लेना सब असत्य सिद्ध होते हैं।

चंद पृथ्वीराज के समकालीन हों अथवा न हों, पर यह विश्वास अभी तक अडिग है कि पृथ्वीराज रासो चंद की रचना है। यह रासो ६९

सनयों अथवा सर्गों में समाप्त हुआ है जिसके अंतिम दस समय चंद के पुत्र जल्हण ने पूरे किए। पृथ्वीराज-रासो ढाई हज़ार पृष्ठों का हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। हिंदी के लिए यह बहुत बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उसके चंद, तुलसी, सूर जैसे महाकवियों का वास्तविक जीवन-चरित्र अभी तक अंधकार के गर्भ में विलीन है और उसके उल्लेख के लिये ऐतिहासिक तथ्यों का कम तथा किंवदंतियों का अधिक आश्रय लेना पड़ता है।

रासो से चंद की विद्वता, वीरता, सहृदयता और मित्र-भक्ति का परिचय प्रचुर परिमाण में मिलता है। यदि यह सत्य है कि पृथ्वीराज और चंद की मृत्यु युद्ध-भूमि अथवा आत्म-हत्या से एक दिन और एक साथ हुई, तब चंद ने अपनी लौकिक लीला संवत् १२४६ में समाप्त की।

परिस्थितियाँ

पृथ्वीराज के जन्म से सवा चार सौ वर्ष पूर्व मुहम्मद बिन कासिम ने सन् ७१२ में सिंध पर आक्रमण किया था। राजनीतिक दृष्टि से अरब लोगों की यह विजय अस्थायी और असफल रही। हिन्दुओं ने थोड़ी सुख की साँस ली थी कि तुर्कों ने इस देश पर आक्रमण कर दिया। अलपगीन के एक दास सुबुक्तगीन ने सन् ९९४ के आस-पास उत्तरी पश्चिमी पंजाब के शासक जयपाल पर दो आक्रमण किए। इसके उपरांत तो उसके सबसे ज्येष्ठ पुत्र महमूद ग़ज़नी ने सन् १००० और १०२६ के बीच भारत पर सत्रह बार आक्रमण करके देश की अपार धनराशि को ही नहीं लूटा, धर्म के अंध आवेश में यहाँ के असंख्य वीरों और निरीह प्रजा के रक्त से भी अपने क्रूर हाथों को रँगा। महमूद के उत्तराधिकारी दुर्बल और विलासी निकले। परिणाम यह हुआ कि ग़ज़नवियों का राज्य गोरियों के हस्तगत हुआ। इनमें भारत पर सबसे प्रथम आक्र-

मण करनेवाला मुहम्मद गोरी था। मुहम्मद ने पहले महमूद के भारतीय उत्तराधिकारी खुसरो मलिक को बंदी बनाया और फिर भारत के अंतर में उसने प्रवेश किया। इस समय गुजरात में बघेले, कन्नौज में राठौर, दिल्ली और अजमेर में चौहान तथा बुंदेलखंड में चंदेले शासन करते थे। पहली बार मुहम्मद गोरी का सामना सन् ११९१ में तरायन के क्षेत्र में चौहान पृथ्वीराज से हुआ। इस बार परास्त और अपमानित होकर सुल्तान गोर लौट आया, परन्तु दूसरे ही वर्ष ११९२ में उसने उसी स्थान पर सम्राट को पराजित ही नहीं किया, उसके जीवन का अंत भी कर डाला। दो वर्ष बाद जयचंद भी मुसलमानों से लड़ते मारा गया और इस प्रकार शीघ्र ही देश शताब्दियों के लिये मुसलमानों की अधीनता भोगने के लिये विवश हुआ।

विदेशियों के आतंक ने ही देश के शरीर पर घाव नहीं किए थे, आपस के द्वेष और मिथ्या गौरव की भावना ने भी मातृ-भूमि की छाती को झीना कर डाला था। देश मंडलों में बँटा हुआ था और एक दूसरे को हानि पहुँचाकर अपमानित करने में ही राजपूत अपना गौरव समझते थे। जहाँ देश एक विदेशी डाकू से सत्रह बार लुट जाय और वहाँ की जनता और शस्त्रधारी सेना कुछ न कर सके इससे अधिक जातीय ह्रास और आपस की फूट का और ज्वलंत उदाहरण क्या हो सकता है? पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी का सामना करने के लिए कटिबद्ध हो और जयचंद जैसा प्रतापी राजा देश का साथ न दे इससे बड़ा आत्मिक पतन और क्या होगा? मुसलमानों के आक्रमण की चर्चा से छोटे-छोटे राजा तो भय से ही आत्म-समर्पण कर देते थे। अपने-अपने वंश की श्रेष्ठता, अपने-अपने स्वार्थ और व्यक्तिगत कलह ने राजपूतों को असमर्थ बना दिया था और क्योंकि युद्ध-कला उनकी अपनी कला थी, अतः सामान्य प्रजा सैनिक शिक्षा के अभाव में कुछ विशेष सहायता न कर पाती थी।

जिस समय विदेशियों के आक्रमण नहीं होते थे उस समय राजपूत अपनी-अपनी शक्ति का परिचय एक दूसरे को देते रहते थे। यदि रासो में पृथ्वीराज के विवाह और युद्धों पर विश्वास किया जाय तो समझना चाहिए कि बिना युद्ध के विवाह हो ही नहीं सकता था। उस समय की बारात का अर्थ सेना समझना चाहिए। हो सकता है कि आज की बारात उसी प्रथा की सूचक और स्थानापन्न हो। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की गवारू कहावत को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो 'जिसकी तलवार उसकी राजकुमारी' कहना होगा।

देश धनधान्य से पूर्ण था और जनता विष्णु और शिव की उपासक थी। सोमनाथ के मंदिर के शिवलिंग को जब महमूद ग़ज़नी ने तोड़ना चाहा तब पुजारियों ने उसे बना रहने देने के लिए असंख्य धनराशि का लोभ दिया था।

इन्हीं स्थितियों में इस देश की भाषा अपभ्रंश से बदलकर हिंदी का रूप धारण कर रही थी। उस समय लेखनी खड्ग की अनिवार्य संगिनी हो उठी थी। चंद कवि इसी हल-चल में उत्पन्न हुये।

हिंदी की प्रारम्भिक रचनाओं का जन्म युद्ध की गोद में हुआ, युद्ध-प्रिय जाति की यश गाथा गाने के लिये हुआ, युद्ध-भावना को जन्म देने और जगाने के लिये हुआ, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा हुआ जो लेखनी उठाना ही नहीं खड्ग खींचना भी जानते थे। जो स्याही में कलम डुबाना ही नहीं, छाती में भाले भोंकना भी जानते थे। वे केवल राजदरबार में ही अपनी वाणी की गूँज न छोड़ते थे, रणभूमि में भी सैनिकों में उत्साह भरते थे। वह काल एक ओर विदेशी लुटेरों और राज्य लोलुपों के भयंकर आतंक का और दूसरी ओर राजपूतों की आपस की कलह और विद्वेष की अग्नि में उनकी

समृद्धि के स्वाहा होने का था। उस समय वीरता की बात सुहाती और सुनी जाती थी। परिणाम स्वरूप जो वीर रसात्मक रचनायें अस्तित्व में आईं, उनकी प्रधानता के कारण यह काल वीरगाथाकाल कहलाया। विद्वानों ने इसका विस्तार संवत् १०५० से १३७५ तक माना है।

भूपति उस समय कवियों का मान करते थे और उन्हें अपना आश्रय-दान देते थे। भारत में उस समय दो राजा अधिक प्रसिद्ध थे—एक कन्नौज के अधिपति राठौर वंशी महाराज जयचंद और दूसरे अजमेर के सम्राट् चौहानवंशी महाराज पृथ्वीराज। महोबे के चंदेल राजा परमाल की भी उनके दो वीर सामंतों आल्हा और ऊदल के कारण बड़ी ख्याति थी। परमाल जयचंद के मित्र थे। पृथ्वीराज के यहाँ महाकवि चंद, जयचंद के यहाँ भट्ट केदार और परमाल के यहाँ जगनिक जैसे वाणी-सिद्ध कवि रहते थे। इन तीनों ने क्रमशः पृथ्वीराज-रासो, जयचंद प्रकाश और आल्हा जैसी प्रसिद्ध रचनाओं को जन्म दिया।

उस समय कितना लिखा गया, कितना नष्ट हुआ और कितना बच रहा, उसका स्पष्ट लेखा आज हिन्दी के पास नहीं। पर आज जो बच रहा है वह उस समय की गतिविधि को स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है। खोज से सम्भव है नवीन लेखकों और नवीन रचनाओं और नवीन तथ्यों पर नवीन प्रकाश पड़े, पर जो प्रस्तुत है उसमें भी बहुत कुछ संशयात्मक है। चंद का प्रकांड प्रयत्न भी इसी प्रकार के काव्य-ग्रन्थों में से एक है।

रासो का एक सर्ग

हिंदी में चंद का नाम महाकवियों की श्रेणी में गिना जाता है। यद्यपि आज के विद्वानों के अन्वेषणों ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया

है कि पृथ्वीराज-रासो अपने आधुनिक रूप में चंद की कृति नहीं हो सकता, उसमें बहुत से प्रक्षिप्त-अंश बाद में मिलाये गए हैं, फिर भी उसमें बहुत कुछ अब भी ऐसा है जो हमें चंद की प्रतिभा के दर्शन कराता है। उनके काव्य के विवेचन के लिए हम 'रासो' के 'पद्मावत-समय' को लेते हैं। यह रचना रासो का बीसवाँ समय, प्रस्ताव अथवा सर्ग है। पहले ही कह चुके हैं कि रासो में ६६ समय हैं।

पूर्व दिशा में समुद्र शिखर नामक गढ़ का अधिपति विजयपाल एक यादववंशी राजा था। उसके प्रतापी पुत्र कुँवरसेन की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी जिसका नाम पद्मावती था। पद्मावती इतनी रूपवती थी कि पशु-पक्षी उसके रूप को देखकर ठगे से रह जाते थे। एक बार एक तोते ने उसके अधर को बिंबाफल समझकर उसका रस लेना चाहा और जैसा रस-लोलुपता का परिणाम होता है, पकड़ाई खाकर पिंजरे में डाल दिया गया। पद्मावती का स्नेहभाव जब तोते से बढ़ा और उसने उसका परिचय पूछा तब अपने परिचय के साथ उसने अपने स्वामी युवक पृथ्वीराज की सुन्दरता, शौर्य और प्रताप का भी आकर्षक उल्लेख किया। पद्मावती पृथ्वीराज के प्रेमपाश में पड़कर विह्वल रहने लगी। इधर उसे सयानी होते देख पिता ने पुरोहित को उपयुक्त वर की खोज में भेजा। पंडित ने कुमायूँ के राजा कुमोदमणि के पास जाकर टीका कर दिया। जब वर धूम-धाम से समुद्र शिखर की ओर बढ़ा, तब कुमारी ने बड़ी अधीरता से एक पत्र लिखकर तोते को सौंपा और उसमें अपने मिलने की विधि का संकेत भी पृथ्वीराज को कर दिया। पृथ्वीराज चामुंड राय को दिल्ली का शासन-भार सौंप सैनिकों को लेकर चल पड़ा। एक ही दिन में कुमोदमणि समुद्र शिखर पहुँचा, पृथ्वीराज पद्मावती से भेटने आया और महाराज के दिल्ली छोड़ने की सूचना ग़ज़नी

कहानी

पहुँची। तोते से सम्राट् के आगमन का समाचार पा पद्मावती शिवमंदिर में गई और वहाँ से पृथ्वीराज उसे हरण करके ले गया। पहले समुद्र शिखर के बाहर ही थोड़ा युद्ध हुआ, फिर पृथ्वीराज शहाबुद्दीन को पकड़कर दिल्ली ले गया। वहाँ विधिवत् पद्मावती और पृथ्वीराज का विवाह हुआ। उस प्रसन्नता में शहाबुद्दीन को मुक्त करके दम्पति सुख-पूर्वक रहने लगे।

प्रबन्ध कल्पना

पद्मावत समय महाकाव्य का एक अंश होते हुये भी स्वयं एक सफल खंड-काव्य का उदाहरण है। एक राजकुमारी है। एक तोते के मुख से एक राजकुमार के रूप-गुण का वर्णन सुनकर मुग्ध हो जाती है। उसका पिता उसकी अनुमति के बिना उसका विवाह अन्यत्र करने की सोचता है। राजकुमारी क्षण भर के लिए निराश होती है, परन्तु फिर चातुर्य और साहस से काम लेती है और अपने जीवन-सर्वस्व के पास अपनी विवशता और नेह की सूचना भेजती है। उसने उपयुक्त व्यक्ति से ही प्रेम किया था, यह उसका वीर पति युद्ध में शत्रुओं को पराजित करके सिद्ध करता है और अंत में विघ्नों के दुर्दिन के उपरान्त यह बालिका अपने मनोनीत प्रणयी की अर्द्धांगिनी बनने में सिद्ध-काम होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि घटनाओं का सृजन कवि ने बड़े कौशल से किया है। कोई पात्र न व्यर्थ है और न आवश्यकता से अधिक काव्य-मंच पर रहता है। पराजय के उपरांत न पद्मसेन की चर्चा है न कुमोदमणि की। पुरोहित भी टीका चढ़ाने के उपरांत दिखाई नहीं देता। तोता अपने स्वामी तक पद्मावती की विरह-व्यथा पहुँचाता है और काव्य-भूमि से खिसक जाता है। शहाबुद्दीन अवश्य बंदी के रूप में दिल्ली तक घसीटा जाता है। यह पृथ्वीराज के वैभव,

शौर्य और उदारता की सिद्धि के लिये आवश्यक है। यदि कोई बात इस कहानी में खटक सकती है तो वह केवल तोते का मनुष्य की भाँति बात-चीत करना। बीसवीं शताब्दी इसे थोड़ा अस्वाभाविक समझेगी। वैसे पक्षियों द्वारा संदेश भेजने का काम तो इस शताब्दी के दोनों महाकवियों में लिया गया है। पर वह एक समय था जब प्राकृतिक जीवन मानवीय जीवन से इतना विच्छिन्न न था, उसी में घुल-मिलकर एक हो गया था। परिणाम-स्वरूप चंद ही नहीं, जायसी ने भी हीरामन तोते से काम लिया और तुलसी तक ने अपनी गीतावली में ग्राम-नारिकाओं के कथोपकथन की सृष्टि की। यह कथानक की पूर्णता में कोई बड़ा व्याघात नहीं है और न इससे उसकी महत्ता में कोई अन्तर पड़ता है। तोते का अस्तित्व एकदम नहीं अखरता, प्रत्युत अत्यन्त मनोरम लगता है। इस सम्बन्ध में कवि का यह कौशल सराहनीय है कि जब अधरामृत के उस लोलुप को पद्मावती पकड़ती है तब पाठकों को यह भान तक नहीं होता कि राजकुमारी के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना के निर्माण में यह तोता ही बीज रूप से प्रविष्ट होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि नायक इस कथा का पृथ्वीराज और नायिका पद्मावती है।

वर्णन

कथानक के वर्णनों में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। क्या राजाओं के वैभव और प्रताप के वर्णन, क्या वीरों के शरीर और शौर्य के अंकन, क्या पद्मावती के रूप-माधुर्य के चित्रण और क्या युद्ध के दृश्य सभी स्थलों पर कवि की लेखनी ने चमत्कार दिखाया है। इस गाथा में अधिकता है युद्ध और सौंदर्य के वर्णनों की। पद्मावती के रूप का आभास देने के लिए जहाँ कवि प्रकृति के उन चिरपरिचित उपमानों को जुटाता है जो आगे चलकर कमल, भ्रमर, खंजन, हंस, मृग, बिंबा

और सर्प के रूप में रूढ़ हो गए वहीं पद्मावती के मुख के माधुर्य के लिए एक अनूठी कल्पना करता है। उसका कहना है कि चंद्रमा में जो सुधा पाई जाती है उसका कारण यह है कि उसने हमारी राजकुमारी को बाल्यावस्था में उसके निकट बैठकर अंग से थोड़े से अमृत का कर लिया था। इसी से—

मनहु कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय॥

शिव मंडप में जब पद्मावती को पृथ्वीराज के प्रथम दर्शन हुए तब पहले तो मुग्ध होने के कारण वह देखती ही रह गई, पर तुरन्त ही नारी-सुलभ लज्जा ने हृदय में प्रवेश किया और अवगुंठन खिंच गया। कवि की इस भावुकता ने इस दृश्य में कैसे प्राण डाल दिये हैं—

सोवन्न थार मोतिन भराय
झलहल करंत दीपक जराय।
पूजियइ गउरि शंकर मनाय
दइछिनै अंग करि लागिय पाय।
फिर देषि देषि प्रथिराज राज
हँसि मुद्ध मुद्ध चर पट्ट लाज।

इस दर्शन के पूर्व आह्लाद और विषाद भरी किसी के पथ को जोहनेवाली प्रतीक्षा की इन पंक्तियों को देखिए—

बिलषि अवास कूँवर बदन मनौं राहु छाया सुरत।
झंषति गवाष्षि पल पल पुलकि दिषति पंथ दिल्ली सुपति।

और देखिये शहाबुद्दीन की सेना में विभिन्न जातियों के वीरों को। इनकी बिल्ली जैसी आँखों और गीदड़ जैसे मुखों को देखने के लिए साहस की आवश्यकता है। एक एक योद्धा हज़ारों को भारी पड़ता है—

खुरासान सुलतान खंधार मीरं
बलक स्यो बलं तेग अच्चूक तीरं।
रुहंगी, फिरंगी, हलंबी, सुमानी
हटी हट्ट बल्लोच ढालं निशानी।
मजारी चषी, मुष्ष जंबुक्क लारी
हजारी हजारी इकैं जोध भारी।

एक क्षण में ही पृथ्वीराज के इस अजेय खड्ग के भयंकर कार्य पर दृष्टिपात कीजिए। कहाँ पद्मावती का वह मधुर रूप और कहाँ उसी के स्वप्न को सत्य करने के प्रयत्न में रक्त की यह धारा! दृश्य ही बदल गया।

कहुँ कमंध, कहुँ मथ्थ, कहुँ कर, चरन, अंतरुरि।
कहीं कंध बह तेग, कहीं सिर जुट्टि फुट्टि उर॥
कहीं दंति मत हय खुर खुपरि कुंभ भुसुंडह रुंड सब।
हिंदुवान रान भय भान मुष गहिय तेग चहुवान जब॥

प्रत्यक्ष है कि इस ग्रन्थ में वीर और शृंगार दो ही रस प्रमुख हैं इनमें भी प्रधानता वीर रस की है। सुंदरी राजकुमारियों का अपहरण भी वीरों की वीरता-प्रदर्शन के लिये एक पथ खोलता था; अतः उनके रूप और प्रेम-वर्णन में शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति के अवकाश में वीभत्स भी भाग रखता है। कवि के युद्ध के वर्णन इसलिए और भी सजीव हो उठे हैं कि वह इन युद्धों में पृथ्वीराज के साथ रहता था। पद्मावत समय में स्पष्ट लिखा है—

कला

सकल सूर सामंत लिए सब बोलि बंब बजि
अरु कवि चद अनूप······

अलंकार प्रयत्नपूर्वक कहीं नहीं लाए गए, इसीसे इन वर्णनों में एक प्रकार का वह प्रवाह रक्षित है जो रीतिकाल के कृत्रिम वर्णनों से एकदम पृथक् दिखाई दे जाता है। शब्दालंकारों में उत्प्रेक्षा कवि को बहुत प्रिय है वैसे उपमा, भ्रम, रूपकातिशयोक्ति भी हैं। युद्ध के वर्णनों में अतिशयोक्ति से स्वभावतः काम लिया गया है—

अ सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र तंत्र तिस।

—अनुप्रास

आ वर गोरी पद्मावती गहि गोरी सुलतान।

—यमक

इ पद्मनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि
रचिय। — उत्प्रेक्षा

ई नष स्वाति बुंद जस। — उपमा

उ अरुन अधर तिय सधर
बिंब फल जानि कीर छवि। — भ्रम

ऊ विगसि कमल स्रिग भमर। — रूपकातिशयोक्ति

जंग जुरन जालिम जुझार
भुज सार भार भुग्र,
धर धमंकि, भजि सेस
गगन रवि लुप्त रैनि हुत्र।

—अनुप्रास और अतिशयोक्ति

चंद की भाषा को डिंगल संज्ञा मिली है। पढ़ने से ही पता चलता है कि यह व्रजभाषा मिश्रित राजस्थानी है। साथ ही इसमें फ़ारसी शब्दों का ही प्रयोग नहीं, कहीं-कहीं खड़ी बोली का पुट भी है। भाषा चंद की मिश्रित है। ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें भाषा की समस्त विशेषताएँ सरलता से पकड़ी जा सकती हैं।

अनुस्वार का अत्यधिक प्रयोग अपनी श्रुति के कारण मधुर न लगकर कर्कश लगता है और विरक्ति उत्पन्न करता है। अपनी प्राचीनता के कारण यद्यपि यह भाषा सुग्राह्य नहीं रही, फिर भी ऐसी दो एक रचनाओं को पढ़ने पर भाव-ग्रहण में कठिनाई नहीं रहेगी। खड़ी बोली का जैसे-जैसे प्रचार बढ़ रहा है और अपनी चिर-परिचित ब्रज और अवधी से जैसे-जैसे हम दूर और उदासीन होते जा रहे हैं, उससे आशंका होती है कि किसी दिन जब तक ब्रज और अवधी के पृथक् कोष सामने न होंगे, तब तक पुरानी कविता ही समझ में न आया करेगी। ऊपर के उदाहरणों में देषि, त्रिगषि, झंषति, गवाष्षि, दिषत, षुरासान, चषी, मुष्ष, षुर आदि पहले अनभ्यस्त से शब्द लगेंगे, पर यदि 'ष' के स्थान पर 'ख' रख दें तब देखि, त्रिगखि, झंखति (झाँकती है) गवाक्ष, दिखत, खुरासान, चख्यो (आँख वाले) मुख, खुर एकदम स्पष्ट हो जायँगे। इसी प्रकार अन्य शब्द भी।

'पद्मावत समय' चंद के महाकाव्य का ऐसा प्रतिनिधि अंश है जो एक प्रकार से कवि की वीर-रसात्मक रचना के समस्त गुणों को पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित करने में समर्थ है।

रासो की प्रामाणिकता

अपने वर्तमान रूप में पृथ्वीराज-रासो किसी एक काल की अथवा किसी एक कवि की कृति नहीं जान पड़ता। अब तक विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता पर पर्याप्त विचार किया है। अधिकतर विद्वानों की राय है कि पृथ्वीराज-रासो अत्यन्त अप्रामाणिक ग्रन्थ है। इनमें श्री मुरारिदान श्री श्यामलदास, डा० बूलर, मुं० देवीप्रसाद, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्री रामकुमार वर्मा मुख्य हैं। कुछ विद्वान् इसे प्रामाणिक मानते हैं, यद्यपि साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इसमें प्रक्षिप्त अंशों की भरमार है। इनमें श्री मिश्रबन्धु,

श्री श्यामसुन्दर दास और पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या मुख्य हैं। आधुनिक अनुसंधान के आलोक में रासो को प्रामाणिक मानना सत्य का अपलाप मात्र होगा। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक डटकर कहा है श्री ओझाजी ने। पृथ्वीराज के समकालीन कवि जयानक की पुस्तक 'पृथ्वीराज विजय' के अध्ययन के उपरान्त यद्यपि डाक्टर बूलर ने इसके जाली रूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला था, पर ओझाजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

"पृथ्वीराज-रासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें राजपूतों की उत्पत्ति की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के संवत् अशुद्ध और कल्पित हैं। कुछ सुनी सुनाई बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गई है। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दिखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता ही है जिसका बीसवीं सदी में सूर्यमल का 'वंश भास्कर' प्रत्यक्ष उदाहरण है। रासो की भाषा में फारसी शब्दों की बहुलता भी उसके प्राचीन होने में बाधक है। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना तो बहुत ही व्यर्थ और निर्मूल है।"

इस प्रकार रासो को जाली ठहराने में जो प्रमाण दिए गए हैं, उन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ उसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ हैं जो शिलालेखों और 'पृथ्वीराज विजय' से सिद्ध हो जाती हैं।

२. उसमें तिथियाँ अशुद्ध दी गई हैं।

३. उसकी भाषा में इतना अन्तर है कि वह एक काल की नहीं है।

पहले तथ्यों और घटनाओं को लें। रासो में चौहान अग्निवंशी बताए गए हैं, परन्तु शिलालेखों, पृथ्वीराज विजय और हम्मीर महाकाव्य

में वे सूर्यवंशी कहे गए हैं। रासो की वंशावली भी ४४ नामों में से ७ नामों को छोड़, किसी भी प्राचीन शिलालेख या ग्रन्थ से नहीं मिलती। पृथ्वीराज की माता का नाम कमला बताया गया है, किन्तु उनका नाम कपूरदेवी था और वे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री न होकर त्रिपुरी के अचलराज की कन्या थीं। ११ वर्ष की अवस्था से लेकर ३६ वर्ष की अवस्था तक पृथ्वीराज के १४ विवाह रासो में लिखे हैं जो निर्मूल हैं। पृथ्वीराज केवल ३० वर्ष की अवस्था में ही मारा गया। पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रैणसी दिया है, पर उसका नाम गोविंदराज था। इसी प्रकार अनंगपाल का अपने दोहते पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य देने के लिए गोद लेना, जयचन्द का ईर्ष्या करना, उसके राजसूय यज्ञ तथा उसकी पुत्री संयोगिता के हरण की कथाएँ भी मनगढंत हैं। इसी प्रकार शहाबुद्दीन की मृत्यु भी पृथ्वीराज के बाण से नहीं हुई। वह गक्खरों के हाथ धमेक के स्थान के पास नमाज़ पढ़ता हुआ मारा गया।

इन प्रमाणों के विरोध में बाबू श्यामसुन्दरदास से सहमत होकर मिश्र-बन्धुओं का कहना है कि इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के तीन कारण हो सकते हैं। रासो काव्य-ग्रंथ है, अतः उसमें अतिशयोक्तिपूर्ण कथन हो सकता है। जो भ्रांतियाँ प्रतीत होती हैं वे नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित कुछ तत्कालीन पट्टे परवानों से दूर हो जाती हैं। तीसरे ये भ्राँतियाँ क्षेपकों के कारण हो सकती हैं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि माना रासो इतिहास-ग्रंथ नहीं काव्यग्रन्थ है, पर काव्य-ग्रंथों में ऐतिहासिक घटना संबन्धी उलटफेर सकारण होता है। 'पृथ्वीराज विजय' भी तो काव्य-ग्रंथ है, फिर उसमें घटनाएँ और नाम क्यों ठीक-ठीक हैं? अतिशयोक्ति और बात है और माता, पुत्र, आदि तक के नाम अशुद्ध देना और बात। पट्टे परवानों के विषय में ओझाजी का कहना है कि वे जाली हैं।

रासो की अशुद्धि के सम्बन्ध में पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने 'अनंद' संवत् की कल्पना दोहे के इस पद के आधार पर की—

११ १५
एकादस मैं चदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन कौं, भय प्रिथिराज नरिंद॥
अ=०, नंद ९ अंकानाम् वामतो गतिः से ९०।

पंड्याजी ने रासो के पक्ष-समर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है, अतः अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना करके उन्होंने यह कहना चाहा कि यह अन्तर भूल नहीं बल्कि सकारण है। नंद शूद्र थे इसलिये उनका राजत्व-काल सम्भवतः राजपूत भाटों ने निकाल दिया।

विद्वानों का विचार है कि यह अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना है। शुक्ल-जी का कहना है कि आज तक और कहीं प्रचलित संवत् में से कुछ काल निकालकर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। ओझाजी का मत है कि यहाँ 'अनंद' का अर्थ 'शुभ' है—जैसे शुभ संवत् प्रायः लिखा जाता है वैसे ही यहाँ भी पृथ्वीराज के जन्म पर 'अनंद विक्रम साक' लिखा है।

यदि पंड्याजी की यह बात मान भी लें तो जिस प्रकार उन्होंने पृथ्वीराज के जन्म (१११५) उसके दिल्ली गोद जाने (११२२) कैमास युद्ध (११[illegible]) कन्नौज यात्रा (११५[illegible]) और अंतिम युद्ध (११५८) के संवत् दिये हैं उनमें [illegible] के अतिरिक्त और कोई संवत् शुद्ध नहीं ठहरता।

रासो के अनुसार पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह समरसिंह के साथ हुआ जो पृथ्वीराज की ओर से लड़ता हुआ शहाबुद्दीन से लड़ाई में मारा गया। पर बहुत बाद तक के शिलालेख समरसिंह

के मिले हैं और पृथ्वीराज की मृत्यु से १०६ वर्ष बाद उसका जीवित रहना पाया जाता है। अतः यह घटना काल्पनिक है। इसी प्रकार रासो के अनुसार गुजरात के राजा भीम ने सोमेश्वर को मारा। सोमेश्वर की मृत्यु सं० १२३६ में हुई और उसी समय भीम गद्दी पर बैठा मात्र था। भीम के सम्बन्ध में लिखा है कि उसे पृथ्वीराज ने मारा, पर उसके शिलालेख पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद तक के पाए जाते हैं। इसी प्रकार १२२६ में चामुंड राय द्वारा गोरी का बंदी होना लिखा है। यह भी असंभव है, क्योंकि उसी वर्ष गोरी और पृथ्वीराज दोनों ही गद्दी पर बैठे।

भाषा की दृष्टि से रासो का समर्थन और भी दुर्बल है। इस विषय में बाबू श्यामसुन्दरदास और मिश्रबंधुओं का कहना है कि चंद लाहौर का निवासी था और पंजाब में मुसलमानों का प्रभाव बहुत पहले से था, अतः फारसी अरबी के शब्दों का आना अस्वाभाविक नहीं। रासो का बहुत सा अंश प्रक्षिप्त है, इस दृष्टि से भी विदेशी शब्दों को अतिशयता हो सकती है। ओझाजी का कहना है कि रासो की भाषा तो दूर, उसके संवतों को शुद्ध सिद्ध करने के लिये जो पट्टे और परवाने दिये गए हैं उनकी लिखावट बहुत बाद की है। पट्टों के लिखनेवाले दरबारी लेखक पुराने लकीर के फकीर होते हैं। पृथ्वीराज के समय में पट्टों की लिखावट संस्कृत में थी। फिर पट्टों में मुहर के पास 'सही' शब्द लिखा है जो मुसलमानों की देखा-देखी बाद का है। रासो में भी पास-पास एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप पाए जाते हैं जो छंद के आग्रह के कारण नहीं, वैसे ही प्रयुक्त हुए हैं। यह स्थिति भाषा के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न करती है।

अब अनंद विक्रम संवत् के सम्बन्ध में थोड़े विस्तार से कुछ कहें—

अनंद विक्रम संवत् एक संवत् है जिसकी कल्पना पंडित मोहनलाल

अनंद विक्रम संवत् विष्णुलाल पंड्या ने रासो के अशुद्ध संवतों को शुद्ध और प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए की।

हुआ यह कि उदयपुर के कविराजा श्यामलदासजी ने 'वीर विनोद' नाम से मेवाड़ का एक इतिहास लिखा। उसके लिए सामग्री एकत्र करते समय जब उन्होंने देखा कि पृथ्वीराज-रासो के संवत् और बहुत-सी घटनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अशुद्ध हैं तब सन् १८८६ में 'पृथ्वीराज-रहस्य की नवीनता' नाम से एक पृथक् पुस्तक के रूप में इस तथ्य पर प्रकाश डाला। इसके उत्तर में पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने सन् १८८७ में 'पृथ्वीराज-रासो की प्रथम संरक्षा' नामक पुस्तक में श्यामलदास की धारणाओं का विरोध करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि चंद पृथ्वीराज के समय में ही वर्तमान थे। पंड्याजी ने एक ही नहीं दो संवतों की कल्पना की। उनकी बात का सार थोड़े शब्दों में इस प्रकार है—

भाट लोग जो संवत् अपने लेखों में लिखते हैं उसमें और शास्त्रीय संवत् में १०० वर्ष का अन्तर है। विक्रमी संवत् को चलानेवाले विक्रम को जब शालिवाहन ने बंधन में डालकर मार डाला, तब अपना संवत् स्थापित करना चाहा। पर उसने देखा कि उसके कर्म से प्रजा इतनी क्षुब्ध हो उठी है कि विक्रम का संवत् बंद करके उसका संवत् चलेगा नहीं। अतः उसने आज्ञा दी कि दोनों संवत् चलें। विक्रम का संवत् पहले से चल ही रहा था। वह संवत् नाम से ही चले। उसका संवत् 'शक' नाम से प्रसिद्ध हो। पंडितों और ज्योतिषियों ने इस बात को स्वीकार कर लिया, पर विक्रम के भाट, राव, याचक आदि इसे कैसे स्वीकार करते? अतः उन्होंने विक्रम की मृत्यु के दिन से अपना एक तीसरा ही नवीन संवत् चलाया। विक्रम के राज्य को १०० वर्ष का

(अ) भटायत संवत्

मान कर उन्होंने विक्रम संवत् और अपने संवत् में १०० वर्ष का अन्तर रखा। यह भाटों का संवत् या 'भटायत संवत्' कहलाया। पंड्याजी के अनुसार इसका प्रचार दिल्ली और अजमेर के चोहानों के काल तक तो अच्छा रहा, फिर कम हो गया।

ध्यान रखना चाहिए कि पंड्याजी ने इस संवत् की कल्पना रासो के संवतों को शुद्ध प्रमाणित करने की दृष्टि से की थी। जब उसके परखने का समय आया तब उन्होंने देखा कि मुसलमान लेखकों के इतिहास के अनुसार हिजरी ५८७ में पृथ्वीराज की मृत्यु तरायन में हुई। यह समय विक्रम संवत् का १२४८।६ बैठता है।

रासो में पृथ्वीराज का जन्म संवत् १११५ दिया हुआ है। उसकी अवस्था ४३ वर्ष की मानी जाती है। अतः यदि यह संवत् भटायत संवत् है, तब पंड्याजी की गणना के अनुसार (१११५+४३+१००) १२५८ विक्रमी में महाराज की मृत्यु हुई। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार वह १२४८।६ में बैठती है। यहाँ भी ६।१० वर्षों का अन्तर रह गया। अपने श्रम को व्यर्थ होते देख पंड्याजी की उर्वर कल्पना ने दूसरी खोज की जिसमें अन्तर १०० वर्ष का न बैठ कर ९०।९१ वर्ष का बैठे। इस खोज का नाम है 'अनंद विक्रम संवत्।'

(आ) पृथ्वीराज के जन्मकाल के इस दोहे को एक बार फिर ध्यान से देखिए—

११ १५

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद—

तिहु रिपु जय पुरहरन को भय प्रिथिराज नरिंद॥

इस दोहे का सीधा अर्थ है शुभ अनंद विक्रमी संवत् १११५ (पंचदह-पंचदश) में पृथ्वीराज का जन्म हुआ। परन्तु पंड्याजी ने 'विक्रम साक अनंद' का विचित्र अर्थ किया। इसे पलटकर उन्होंने

'आनन्द विक्रम साक (संवत्) माना इसमें अनन्द का अर्थ किया (अ=रहित या शून्य (०) और नंद क्योंकि ९ थे अतः (९) विक्रम के संवत् से ९० कम। अर्थात् अनंद विक्रम संवत् वह संवत् है जिसमें वास्तविक विक्रम संवत् से ९०।९१ वर्ष का अन्तर हो। इस हिसाब से १११५+४३+९०।९१ अपने आप हो १२४८।९ हो गए।

इसकी आलोचना करने से पहले यह भी जान लेना मनोरंजक होगा कि सन् १९०० में बाबू श्यामसुन्दरदास ने हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की एक अंग्रेजी रिपोर्ट में इस पर विचार किया। यह रिपोर्ट सर जार्ज ग्रिअर्सन के पास पहुँची। उन्होंने विसेंट स्मिथ से चर्चा की। यहीं तक नहीं, डाक्टर रूडोल्फ होर्नली ने सन् १९०६ में रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में इस पर विचार किया और डा० वर्निट ने इसे एक पुस्तक में स्थान दिया। इधर मिश्र-बंधुओं ने पंड्या जी अथवा श्यामसुन्दरदासजी के तर्कों को तो सबल मानने से इनकार किया, पर संवत् के अस्तित्व में अपना विश्वास प्रकट करके, 'होने' और 'न होने' में सामंजस्य स्थापित किया। इस प्रकार काफ़ी धूम रही इस 'अनंद विक्रम संवत्' की।

आलोचना

(क) यदि अनंद का अर्थ १०० में से ९ रहित का है तब दोहे में १०० का वाचक शब्द कहाँ है? क्यों १०० में से ९ घटाए गए?

(ख) यदि अनंद (अ=०, नंद ९) का अर्थ अंकों की गणना उल्टी होनेवाले सिद्धान्त के अनुसार ९० है तब विक्रम संवत् से 'कम' का अर्थ कैसे लगा?

(ग) यह तर्क कि नंद शूद्र थे और उन्होंने सब मिलाकर ९० वर्ष

राज्य किया था; अतः उनके काल को ब्राह्मणों ने निकाल दिया, कहाँ तक बुद्धि-संगत है ?

सच बात यह है कि 'विक्रम साक अनद' का सीधा अर्थ शुभ विक्रम संवत् है।

(घ) इस संवत् को कल्पना करके पंड्याजी ने यह घोषणा की थी कि अब रासो के समस्त संवत् खरे उतरेंगे। नीचे कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध घटनाओं के संवतों को लेते हैं—

पृथ्वीराज का	रासो का अनंद संवत्	अन्तर	विक्रम संवत्
जन्म	११९५	९०।९१	१२०५।६
दिल्ली गोद जाना	११२२	"	१२१२।३
कैमास युद्ध	११४०	"	१२३०।१
कन्नोज यात्रा	११५१	"	१२४१।२
अंतिम युद्ध	११५८	"	१२४८।९

जन्म

पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु १२३४।३६ के बीच हुई और उसने बालक पृथ्वीराज को अपनी गद्दी पर छोड़ा था। यह इतिहास से प्रमाणित है। यदि रासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म १२०५ में हुआ, तब उस समय वह बालक न होकर ३० वर्ष का हुआ, जो असंगत है।

जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' से सिद्ध हो चुका है कि पृथ्वीराज अनंगपाल का धेवता नहीं था। उसकी माता देहली की न होकर त्रिपुरी

गोद जाना

राज्य की थी। अतः नाना की गोद जाकर दिल्ली प्राप्त करने का प्रसंग ही नहीं उठता और फिर उसके पूर्व ही बीसलदेव के समय से दिल्ली चौहानों के राज्य का एक अंश थी।

कैमास युद्ध

कहा जाता है कि ११४० में पृथ्वीराज ने अपने मंत्री कैमास को शहाबुद्दीन से लड़ने सिंधु नदी के इस पार भेजा। यह विक्रमी संवत् १२३० में हुआ। जैसा जन्मवाली घटना से सिद्ध कर चुके हैं, उस समय तो पृथ्वीराज शिशु था। साथ ही १२३ २।३ के पूर्व तो स्वयं शहाबुद्दीन ने भारत पर आक्रमण तक नहीं किया।

पृथ्वीराज की कन्नौज यात्रा

रासो में लिखा है कि कन्नौज के राजा विजयपाल ने सोमेश्वर के श्वसुर देहली के राजा अनंगपाल पर चढ़ाई की और उसकी दूसरी कन्या 'सुन्दरी' से विवाह किया। इस संयोग से जयचन्द की उत्पत्ति हुई। कुछ काल उपरान्त विजयपाल ने दिग्विजय की और कटक के सोमवंशी राजा मुकुन्द देव की पुत्री से जयचन्द का परिणय कराया। जयचन्द के एक पुत्री हुई। उसका नाम संयोगिता था। राजसूय यज्ञ में जब जयचन्द ने संयोगिया के प्रेमी पृथ्वीराज की अवज्ञा की, तब पृथ्वीराज अपनी प्रेयसी को कन्नौज से हरण करके ले गया।

इतिहास से सिद्ध हो चुका है कि न तो पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय अनंगपाल दिल्ली का राजा था, न विजयपाल ने कभी दिग्विजय की, न कटक में उस समय सोमवंशी राजा राज्य करते थे। संयोगिता के स्वयंवर की कथा तो एकदम मनगढ़ंत है।

रासो का ११५८ वाला संवत् जिसमें ९०।९१ जोड़ने से १२४८।९ विक्रमी संवत् बनता है अवश्य ठीक बैठता है। पर पहले ही दिखा चुके हैं कि इसी संवत् को लेकर तो यह सारी कल्पना हुई।

अंतिम युद्ध

इतना होने पर रासो में जो शहाबुद्दीन की मृत्यु पृथ्वीराज के शब्द-वेधी बाण से लिखी है वह इतिहास-विरुद्ध है। वह तो गक्खरों के हाथ मारा गया। जैसा रासो में लिखा है पृथ्वीराज के उपरान्त अजमेर के सिंहासन पर रैणसी नहीं बैठा, शहाबुद्दीन की अनुमति से गोविंदराज बैठे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंड्या जी की श्रमसाध्य कल्पना कितनी व्यर्थ और दुर्बल है। उन्होंने यह भी घोषणा की थी कि 'अनंद संवत्' के मानने से चोहानों की तिथियाँ ही नहीं जोधपुर और जयपुर के राजाओं के संवत् भी ठीक बैठते हैं, पृथ्वीराज के जो पट्टे पाए जाते हैं उनकी तिथियाँ भी शुद्ध होंगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से एक भी बात प्रामाणिक नहीं निकली। ओझाजी ने पृथ्वीराज के ११२२ के कुछ पट्टों का निरीक्षण करके उन्हें जाली सिद्ध किया है। सीधी सी बात यह है कि ११२२ अनंद संवत् १२१२ विक्रम संवत् हुआ। उस समय तो पृथ्वीराज ने इस पृथ्वी का मुख भी नहीं देखा था। साथ ही उन पट्टों की लिखावट भी पुरानी नहीं है। उनमें विदेशी शब्दों की भरमार है और मुहर के पास 'सही' लिखा है जो मुसलमानी प्रभाव को स्पष्ट सूचित करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का अनंद विक्रम संवत् जिसकी एक दिन बड़ी धूम थी अब आलोचकों के विनोद का एक साधन बनकर स्मृति से क्षीण होता जा रहा है।

रासो हमारे साहित्य के शैशव के तुतलेपन की प्रौढ़ वाणी है। उसे खोना एक प्राचीन निधि को खोना है। फिर भी क्या उसकी घटनाएँ, क्या संवत् और क्या भाषा, जिस बात की भी परीक्षा की जाती है, उसी से यह सिद्ध होता है कि यह काव्य-ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में पृथ्वीराज के किसी समकालीन चन्द की कृति नहीं।

क्षण भर को यदि हम इन विवादास्पद सम्मतियों को भुला दें कि रासो जाली है अथवा प्रामाणिक, उसमें मूल लेखक की कृति अधिक

क्या महाकाव्य नहीं हैं

है अथवा प्रक्षिप्त अंश, तब वह भाव, वर्णन, छंद, अलंकार, भाषा सभी दृष्टियों से हमारे प्राचीन साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में रासो के महाकाव्य होने में अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं—

१. इसमें जातीय स्थिर चित्तवृत्तियों का अभाव है।
२. महाकाव्य में एक ही प्रधान युद्ध होता है। रासो में कोई एक प्रधान युद्ध नहीं।
३. उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है।
४. उसका परिणाम बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है।
५. रासो में घटनाएँ एक दूसरी से असंबद्ध हैं। कथानक शिथिल है।

इनमें कथानक वाली बात को छोड़कर और कोई तर्क जमता नहीं। 'वस्तु' का भी जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ एक तो रासो में प्रक्षिप्त अंशों की निश्चित ही भरमार है जिनसे गाथा के विकास के विभिन्न अनुपात विषम हो गए हैं। रासो का पिछला अंश चंद के पुत्र का लिखा हुआ है और निश्चित ही अपने पिता जैसी प्रतिभा उसमें नहीं थी। इतना होते हुए भी लक्षण ग्रंथों के सिद्धान्तों के आधार पर ही हमें सदैव किसी काव्य-ग्रंथ को नहीं परखना चाहिए। सिद्धान्त काव्यों के ही आधार पर बनते हैं। कवि कभी उन सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे ऐसा नियम नहीं है। रासो व्यक्ति-प्रधान महाकाव्य है। उसकी घटनाएँ एक वीरमूर्ति के चारों ओर उसके जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त घूमती हैं। पृथ्वीराज इस काव्य परिधि का मध्यविन्दु (Central figure) है। अनेक शत्रु होने पर भी मोहम्मद गोरी उसका प्रमुख शत्रु है, अनेक प्रेमिकाएँ होने पर भी संयोगिता उसकी प्रमुख प्रेमिका है, अनेक बार विजयी होने पर भी शब्द-वेधी बाण से गोरी की हत्या करना उसकी सबसे बड़ी विजय है और अनेक बार रक्त की नदियाँ बहाने पर भी चन्द के हाथ पृथ्वीराज का अपनी मृत्यु स्वीकार करना सबसे करुण दृश्य है। अपने जीवन में जिस क्षत्रियोचित्त वीरता, उदारता, शरणागत वत्सलता और प्रेम भावना का परिचय पृथ्वीराज ने दिया, अपनी मृत्यु में भी वह एक राजपूती आन की झलक दिखा गया। पृथ्वी-

राज में राजपूतों को समस्त चित्रवृत्तियाँ प्रतिनिधित्व करती हैं। वीरता के साथ ही उस राजपूत की शृंगारी-वृत्ति का पूर्ण उल्लेख रासो में मिलता है। संघर्ष देखा जाय तो हिन्दू और मुसलमान दो ही जातियों का है। पृथ्वीराज की मृत्यु से जो व्यापक और भयंकर प्रभाव विदेशियों का इस देश पर पड़ा वह क्या किसी से छिपा है ?

पृथ्वीराज और चंद का संयोग अनुपम था। महाराज ने चद को अपनाकर यदि अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया तो चंद ने भी एक सच्चे वीर के जीवन-मरण का साथी बनकर उसकी गाथा अमर बनाने में कुछ उठा नहीं रखा।

ऐसी स्थिति में दो सहस्र बार रासो अप्रामाणिक सिद्ध हो जाय, पर हिन्दी में जब कभी महाकवियों का नाम गिनाया जायगा, तब चंद बरदाई को सबसे पहले स्मरण किया जायगा।

विद्यापति

विद्यापति का जन्म संवत् १२०७ में दरभंगा ज़िले के विसपी गाँव में हुआ। जाति के ये मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर और माता का हाँसनी देवी था। हरिमिश्र इनके गुरु थे। इनके पुत्र का नाम हरिपति और पुत्री का दुलही बतलाया जाता है। विद्यापति के पूर्वज विद्वान् और नीतिज्ञ होने के कारण मिथिला दरबार में सदैव मान पाते रहे और राज्य के ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित रहे। विद्यापति अपने पिता के कारण बाल्यकाल से ही राजकुल के सम्पर्क में रहे। उन्होंने मिथिला के गणेश्वर, कीर्तिसिंह, देवसिंह और शिवसिंह चार-चार राजाओं का दरबार देखा था। शिवसिंह ने तो इन्हें अपना मित्र ही बना लिया, और अपनी गुण-ग्राहकता के परिचय-स्वरूप विसपी गाँव कवि को दान कर दिया। कवि ने भी अपनी ओर से इसका उचित प्रतिदान दिया। उसने शिवसिंह और उनकी रानी 'लखिमा देई' को अपने पदों में स्थान देकर अमर कर दिया।

विद्यापति संस्कृत के प्रकान्ड पंडित थे। उन्होंने एक दर्जन ग्रन्थों का प्रणयन इस भाषा में किया जिनमें कीर्तिलता और कीर्तिपताका मुख्य हैं। परन्तु जैसे फारसी के मार्मिक ज्ञाता और प्रसिद्ध लेखक ग़ालिब की प्रसिद्धि उनके उर्दू दीवान के कारण है, उसी प्रकार विद्यापति की ख्याति उनकी हिन्दी पदावली के कारण।

विद्यापति को अपने जीवन काल में अनेक उपाधियाँ मिलीं जिनमें 'अभिनव जयदेव' 'कवि रंजन' 'कवि शेखर' 'कवि कंठहार' आदि मुख्य हैं। विद्यापति को लोग उनकी वाणी की सरसता के कारण 'मैथिल कोकिल' के नाम से पुकारते हैं।

धर्म में विद्यापति अत्यन्त उदार वृत्ति के थे। अपनी रचनाओं में राधा, कृष्ण, शिव, दुर्गा, गंगा और महारानी मैथिली के प्रति उन्होंने अपनी आस्था प्रकट की है।

विद्यापति का जीवन वैभव और सौन्दर्य के बीच व्यतीत हुआ। ९० वर्ष की अवस्था में संवत् १४९७ की कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को उन्होंने अपनी इहलोक लीला समाप्त की।

विद्यापति की पदावली का विषय तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

पदावली १—वन्दना और नचारी

२—राधाकृष्ण की प्रणयलीला

३—विविध—युद्ध, दृष्टिकूट, बाल-विवाह आदि।

प्रारम्भ में कृष्ण, राधा एवं देवी की वन्दना है और अन्त में प्रार्थना और नचारियाँ जिनमें दुर्गा, सीता और गंगाजी की स्तुति के अतिरिक्त शिव के विवाह सम्बन्धी पद हैं। उन पदों ने बहुत थोड़ा स्थान घेरा है। तीन चौथाई से अधिक में वे पद (श्री रामवृक्ष बेनीपुरी संकलन) हैं जिनमें राधाकृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन है। सम्भव है विनय के और भी बहुत से पद विद्यापति ने लिखे हों जो या तो किसी कारण से नष्ट हो गए हों या किसी कोने में छिपे पड़े रहने के कारण उपलब्ध न हो सके हों।

पहले राधा कृष्ण सम्बन्धी पदों को लेते हैं। इनमें विद्यापति की समस्त काव्य-प्रतिभा निहित है।

नारी के जीवन में वयःसंधि एक विशिष्ट काल है। तब शिशुता का अंत होकर यौवन का प्रारम्भ होता है। विद्यापति ने इस स्थिति

वयः संधि

का चित्रण बड़ी कुशलता से किया है। उनकी दृष्टि बाहर-भीतर सर्वत्र घूमती है। वाह्य शरीर में अनेक परिवर्तन होते हैं। नेत्र कटाक्ष करना सीखते हैं, हँसी स्मिति में परिवर्तित हो जाती है, वक्ष किंचित् उभर कर विकास ग्रहण करता रहता है, कटि क्षीणता प्राप्त करती है, चरण की गति में मन्दता आ विराजती है। बहुत से नवीन भावों से प्रथम परिचय जीवन की इस भूमिका में होता है जिनका विशद, मनोवैज्ञानिक वर्णन कवि ने किया है। यौवन अपने को छिपाना जानता ही नहीं। आवेग और लज्जा का एक साथ उदय होने से कभी तो छल से रस की बातें जानने के लिये समवयस्का सखियों का सहारा लिया जाता है, कभी एकान्त का आश्रय, जहाँ अपने शरीर के अंगों को मन भर कर देखने में कोई बाधा डालने वाला नहीं। शरीर को सजाने का ध्यान स्वाभाविक रूप से आ जाता है। कुछ प्रसन्नता, कुछ आश्चर्य, कुछ मस्ती, कुछ लज्जा, कुछ चतुराई, कुछ भोलेपन, कुछ मर्यादा, कुछ वासना, कुछ सुख, कुछ पीड़ा का यह मिला-जुला काल है। जिस चंचल स्थिति को समय बाँधने में असमर्थ रहता है, उसे विद्यापति ने अपनी कला की पंखुरियों में बंदी कर दिया है

खने खने दसन छटा छुट हास।
खने खने अधर आगे गहु बास ॥
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर ॥
खने आँचर दए, खन होए भोर ॥

नख-शिख

नख-शिख वर्णन में विद्यापति ने प्रकृति से उन उपमानों को चुना है जो सामान्य रूप से संस्कृत में पहले से ग्रहीत थे और हिन्दी में आगे चलकर प्रचलित हुए। शरीर के लिये कनकलता, केश के लिए मेघ, सम्पूर्ण मुख के लिए चन्द्रमा, सिंदूर-बिंदु के लिए सूर्य, भौंह के लिये भ्रमर

या धनुष, नेत्र के लिए हिरण और कमल, नासिका के लिए कीर, ओठ के लिये बिंबा और माधुरी-पुष्प, दशन के लिए दाड़िम और गजमुक्ता, ग्रीवा के लिए शंख, कुच के लिये पर्वत, कटि के लिये सिंह, नाभि के लिए विवर, जंघा के लिए कदली, चरण और कर के लिए कमल या पल्लव। इसी प्रकार वाणी के लिये कोकिल और गति के लिए गजराज। कहीं एक ही उपमान अनेक उपमेयों के काम आया है जैसे कमल से मुख, ललाट, लोचन, उरोज, शरीर की गन्ध, कर, चरण आदि और कभी एक ही उपमेय के लिये स्थिति और भाव के अनुसार अनेक उपमान लाए गए हैं जैसे केश के लिए कहीं अँधकार, कहीं राहु, कहीं भँवरा, कहीं मेघ; इसी प्रकार कुच के लिये कहीं चकोर, कहीं घट, कहीं सुमेर, और कहीं आकार के अनुसार बेर, नीबू, नारंगी, बेल आदि।

वैसे आज युग-युग के संस्कारों के संकलित होने से अंग-प्रत्यंग के उपमान मात्रों में एक-एक भाव भर गया है, पर कवि का काम वस्तुओं का केवल नाम लेने से नहीं चलता। सौंदर्य की सृष्टि करने के लिए उसे वस्तुओं को एक क्रम और अनुपात में सजाना पड़ता है। इस कार्य में विद्यापति बहुत कुशल हैं। कहीं-कहीं तो अलंकारों का सहारा लेकर वे हमारी दृष्टि के सामने एक चित्र सा खींच देते हैं। इसके लिए उपमा उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति, संदेह और अतिशयोक्ति से काम लेते हैं—

क.   अधर बिंब सन

ख.   सुंदर बदन, सिंदूर बिंदु
सामर चिकुर भार।
जनि रवि ससि संगहि उगल
पाछ घटा अंधकार॥

ग.   चिकुर निकर तम सम,

पुनि आनन पुनिम ससी,
नयन पंकज, के पतिआओत
एक ठाम रहु बसी।

घ. कनक कदलि पर सिंह समारल

ङ. केहु कह सैकत छपला
केहु बोले नहिं नहिं, मेघे झपला
केहु कह भमए भँवरा।

च. कवरी भय चामरि गिरि कंदर,
मुख भय चाँद अकासे;
हरिन नयन भय, स्वर भय कोकिल
गति भय गज बनराजे।

कहीं-कहीं कवि ने किसी विशेषण के प्रयोग से रूप की रेखाओं को उभार दिया है। भौंह को धनुष कहना रूढ़ि है, पर विद्यापति ने उन्हें 'कज्जल धनु' कहकर आकार और वर्ण दोनों को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार शरीर, कुच और जंघाओं के लिये कनक-लता, कनक-शम्भु, कनक-कदलि कहने से और ही आभा और रम्यता झलकती है। (ग) उदाहरण में श्याम और श्वेत रंगों की स्थापना (Setting) इस ढंग से की है कि एक दूसरे के विरोध में आकर मुख और उज्ज्वल, केश और घने, नेत्र और अरुणारे लगते हैं। कितना माधुर्य है इस चित्र में !

चिकुर निकर तम सम,
पुनि आनन पुनिम ससी;
नयन पंकज, के पतिआओत
एक ठाम रहु बसी।

दूसरे स्थल पर एक ही रङ्ग से नीली साड़ी और श्याम केश अंकित होने पर भी कितने स्पष्ट लगते हैं !

नील वसन तन घेरल सजनि गो
सिर लेल चिकुर सँभारि।

पंचबाण के तीरों का यह स्पष्ट लेखा देखिए—

तिन बान मदन तेजल तिन भुवने,
अवधि रहल दओ बाने;
विधि बड़ दारुन बधए रसिकजग
सोंपल तोहर नयाने।

कभी आपने यह सोचा है कि चाँदनी का उद्गम क्या है? विद्यापति का कहना है कि ब्रह्मा ने चंद्रमा का सार लेकर राधा के मुख का निर्माण किया था। राधा ने अपना मुख धोकर कुछ बूंदें इधर-उधर छिड़का दीं। उन्हीं से दशों दिशाओं में अब उजाला होता रहता है। कैसी रम्य, कैसी विलक्षण, कैसी भावभरी, साथ ही कैसी सटीक कल्पना है!

चाँद सार लए मुख घटना करु,
लोचन चकित चकोरे;
अमिय धोय आँचर धनि पोंछल,
दह दिस भेल उँजोरे।

सुंदरता का अँगड़ाई लेना, उठना, पलक उठाना, हँसना, क्रोध करना, रोना, कहीं भी अपनी कांति बिखेरते चलना और सोना, एक इंद्रजाल की सृष्टि करना है। उसका स्नान करना नवःस्नाता यौवन के रम्यतम दृश्यों में से एक है। यह दृश्य इतना आकर्षक है कि यदि कवि से वर्णन करने के लिये कहा जाय तो वह दृष्टि-लीनता और हृदय-मग्नता को सामने रखते हुए मैथिलीशरण के शब्दों में यही कहे—

किंतु स्वयं अनुभूति यहाँ है निश्चला।

विद्यापति ने स्नान करती हुई राधा का जो चित्र अंकित किया है उसे चित्र कहें? चित्र तो जड़ होता है। उसमें इतनी स्फूर्ति कहाँ? पर यह तो माधुर्य का एक अनिर्वचनीय अजस्र निर्झर है। यहाँ कीट्स की वह भावना अक्षरशः प्रमाणित हो रही है जहाँ उसके अनुसार सुन्दरता का कोई दृश्य चिरंतन आह्लादकारी होता है—

A thing of Beauty is a joy for ever.

कवि ने दर्शक को स्नान करती हुई नायिका को चोरी से दिखाने का आयोजन किया है। ऐसी चोरी भी बड़ी प्यारी लगती है। ऐसा न करे तो नायिका के थोड़े सजग होने से स्नान की स्वच्छन्दता चली जाय और दृश्य का सारा माधुर्य विलीन हो जाय। केशों से बूंदें झड़ने का वर्णन कवि ने उत्प्रेक्षा के आधार पर अनेक प्रकार से किया है—

(अ) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा।

(आ) चिकुर गरए जलधारा
मेह बरस जनु मोतिम धारा।

(इ) केस निगारइत बह जलधारा
चमर गरए जनि मोतिम हारा।

जैसे इन पंक्तियों के पढ़ने मात्र से बूँदों के टपकने का दृश्य आँखों के सामने घूम जाता है वैसे ही नीचे की पंक्तियों को दुहराने से पुछे हुए उजले शरीर की कांति सामने झलक उठती है

बदन पोंछल परचूरे
माजि धएल जनु कनक मुकूरे।

ऐसी स्थिति में अमोघ प्रभावशाली चितवन के घूमने, यहाँ वहाँ के अंगों के खुलने, फिर स्वाभाविक लज्जा से उन्हें ढकने, वस्त्रों के शिथिल और अस्तव्यस्त होने, नेत्रों से काजल धुलने पर उनमें हल्की अरुणाभा के छाने का तो उल्लेख इन पदों में है ही, पर सबसे अधिक रमणीक कल्पना है विद्यापति की भीगे वस्त्रों का शरीर से चिपटे रहने की। वस्त्रों को इस बात का पता चल गया है कि राधा मोहरहित होकर उन्हें पृथक कर ही देगी; अतः वे और भी अधीरता से चिपटे चले जाते हैं। इधर जल-धारा ने अनुभव किया है कि ऐसा रस अन्य शरीर में नहीं मिलेगा; अतः वह विदाई पर आँसू बहा रही है। जड़ वस्तुओं में इस प्रकार प्राण-प्रतिष्ठा करना विद्यापति के अतिरिक्त क्या किसी और से सम्भव था?

(अ) आंनुकि करल.हे चाहि किए देहा।
अबहिं छोड़ब मोहि तेजब नेहा॥
(आ) ऐमन रस नहिं पाओब आरा।
इथे लागि रोइ गरए जलधारा॥

पथ में आते-जाते राधा कृष्ण कहीं मिल जाते हैं। राधा सुंदरी हैं, शृंगार किए हुए हैं, ऊपर से नटखट भी हैं, अतः कृष्ण उन्हें देखते ही विकल हो जाते हैं। राधा भी कृष्ण के

प्रेमप्रसंग

दर्शन से एक प्रकार की पीड़ा का अनुभव करती हैं। वैसे अपनी-अपनी आकुलता का निवेदन दोनों दूतियों से करते हैं, पर राधा की वाणी में थोड़ा अधिक संयम है। कृष्ण जहाँ खुले शब्दों में अपनी बात प्रकट कर देते हैं, राधा वहाँ थोड़ी विदग्धता का परिचय देती हैं—

कृष्ण काहिक सुन्दरि के ताहि जान।
आकुल कए गेल हमर परान॥
राधा साओन घन सम झर दु नयान।

अंचल के खिसकने का आवश्यकता से अधिक वर्णन इन पदों में है। राधा के कितने असीम रूप को पंक्तियों की सीमित परिधि में कवि ने बाँधा है पहिले यह देखिए—

जहँ-जहँ पग जुग धरई।
तहिं-तहिं सरोरुह झरई॥
जहँ-जहँ झलकत अंग।
तहिं-तहिं बिजुरि तरंग॥
जहँ-जहँ नयन विकास।
तहिं-तहिं कमल प्रकास॥
जहँ-जहँ कुटिल कटाख।
ततहिं मदन सर लाख॥

राधा इसी रूप-शक्ति के प्रभाव से मन हरतीं, धैर्य हरती हैं। क्योंकि साध बनाए रखनी है, अतः सहसा आत्म समर्पण नहीं करतीं, क्योंकि रस बनाए रखना है; अतः हावों से अपने हृदय की गति का परिचय तो देती हैं, पर तुरन्त ही खिसक जाती हैं :

क. आढ़ु बदन कए, मधुर हास दए
सुन्दरि रहु सिर नाई;
अऔंधा कमल कांति नहिं पूरए
हेरइत जुग बहि जाई।

ख. आध बदन-ससि बिहसि देखाओलि
आध पीहलि निअ बाहु;
किछु एक भाग बलाहक झाँपल
किछुक गरासल राहु।

एक दूसरे का एक दूसरे पर प्रेम प्रकट होने के उपरान्त एक को दूसरे से मिलाने के लिए मध्यस्त की आवश्यकता होती है। दोनों

दूती, नोक झोंक, शिक्षा

ओर से दूतियाँ छूटकर दोनों की दारुण दशाओं का उल्लेख करती हैं। दूतियों को पूरी आग भड़काने वाली समझिए। कृष्ण की दूती कृष्ण के प्रेम, कृष्ण की आकुलता, कृष्ण की अनन्यता का एक ओर वर्णन करके कृष्ण के प्रति राधा के आकर्षण को दृढ़ करती, राधा के मुख पर ही राधा के गुणों का उल्लेख करके उसकी रुचि को जगाती और साथ ही यह भी समझाती है कि यौवन क्षणिक है, किसी गुणवान के साथ उसका उपभोग ही जीवन की सार्थकता है। दूसरी ओर राधा की दूती राधा के गात के कृश होने, मूर्छित रहने और रात-दिन रोने की चर्चा करके कृष्ण की उतावली को गति देती है। राधा अभिसार और कृष्ण मिलन के लिए उद्यत होते हैं।

नोंक-झोंक में उस स्थिति का वर्णन है जहाँ युवतियाँ अपनी 'हाँ' को 'ना' शब्द से व्यक्त करती हैं। इस 'ना' में माधुर्य का एक पूरा सागर लहराता रहता है। पर विद्यापति इस मधुर 'ना' के अनुकूल एक रोमांटिक वातावरण की सृष्टि भी करते हैं—

छाँड़ु कन्हैया मोर आँचर रे
फाटत नव सारी।
अपजस होएत जगत भरि हे
जनि करिअ उघारी।
संग क सखि अगुआइल रे
हम एक सरि नारी।
दामिनि आए तुलाएल हे
एक रात अँधारी।

इस थोड़ी सी छेड़-छाड़ और विफल भागने के उपरान्त दूतियाँ निश्चित मिलन के लिए दोनों को उद्यत करती हैं : और अभिसार का

शिक्षा देती हैं। कृष्ण को तो इतना ही समझाता हैं कि राधा उन्हें हृदय से बहुत चाहती है, अतः बाहर से वह अधिक उत्साह प्रदर्शित न करे तो अनुत्साहित न होना, पर राधा को पूरी-सरीति सिखाई गई है।

पहिरल बैठवि सयनक सीम।
हेरइत पिया मुख, मोड़वि गीम॥
परसइत दुहु कर बारवि पानि॥
मौन रहवि पहुकर इत बानि॥
जब हम सौंपब करे कर आपि।
साधस धरवि उलटि मोहे काँपि॥

राधा कृष्ण कभी वैवाहिक बन्धन में नहीं बँधे थे। जैसा मानभंग प्रसंग से स्पष्ट है विद्यापति की दृष्टि में भी राधा परकीया ही थीं।

मिलन और उसके उपरान्त

परन्तु पदावली के मिलन प्रसंग के प्रारम्भ में उस लौकिक रीति का पालन किया है जिसके अनुसार स्त्रियाँ दुलहिन को पहले घर में प्रवेश करातीं और फिर रात्रि के समय कुछ समवयस्काएँ उसे पति के कक्ष में धोखे से ठेल खिसक आती हैं। इस प्रथम भेंट में घूँघट अपने पूर्ण माधुर्य के साथ विद्यमान है। विजड़ित चरणों से, झुकी पलकों से, सुकुमारता के भार से दबी नायिका शैया के निकट आकर पैरों की उँगली से पृथ्वी पर कुछ लिखने लगती है—

जतने आएलि धनि सयनक सीम।
पांगुर लिखि खिति नत रहु गीम॥

ये रात के पल नहीं हैं, लज्जा, संकोच, अनुनय, हठ, भय, प्रबोध, छल, अल्प सम्भाषण और मधुर परस के पल हैं। दीपक इतनी दूर पर जल रहा है कि दुष्ट बुझाया भी तो नहीं जा सकता।

प्रभात होते ही सखियाँ घेर लेती हैं। पूछती हैं, अरे नेत्रों का काजल कैसे फैल गया? ओठ फीके क्यों हैं? हार कब टूट गया चोटी में गुथें पुष्प, सिर का सिंदुर, माथे का तिलक क्या हुए? तेरी आँखों में नींद कैसे भरी हुई है? नायिका चुप है। एक प्रश्न हो तो उत्तर दे। ये कोई पूछने की बातें हैं। सखियाँ हँस पड़ती हैं और मानो उनकी वह हँसी ही सब प्रश्नों का उत्तर बन जाती है।

परकीया के साथ प्रेम का निर्वाह बहुत ही कठिन काम है। इस कठिनाई को यदि प्रेमिकाएँ अपने साहस से सरल न कर देतीं तो पार पहुँचना सम्भव न होता। इस साहस का नाम अभिसार है जिसमें नायिका सबसे छिपकर नायक से मिलने आती है। विद्यापति की पदावली में दिवा और निशाभिसारिका दोनों का वर्णन है। निशा-भिसारिकाओं में शुक्लाभिसारिकाओं के चित्र भी हैं और कृष्णा भिसारिकाओं के भी। लज्जा का वर्णन प्रथानुसार है। राधा एक बार पुरुष वेश में भी अभिसार करके कृष्ण को चकित करती हैं, पर स्पर्श से पहचानी जाकर पकड़ी जाती हैं। कितनी विषम परिस्थितियों में अभिसारिका अपने अविचल प्रेम का परिचय देती है यह समझाने की बात नहीं। रीति मर्यादा का भय, गुरुजन परिजन का भय, लोक लज्जा का भय, एक भय है? घर से आँख बचाकर निकले तो पथिक हैं। पथिकों से प्राण बचे तो प्रकृति है। कभी उज्ज्वल चंद्रमा भेद खोलने पर तुला है, कभी मध्यान्ह की तप्त बालू सुकुमार चरणों को झुलसने को तत्पर है; कभी घोर वर्षा, घनांधकार, कड़कती विद्युत मुँह खोले हुए हैं। कभी मार्ग में काँटे, बिच्छू, सर्प डटे हैं।

पर विघ्नों के सामने प्रेम क्या हार स्वीकार करता है? नायिका अब अधिक चतुरा हो गई है। पहले जिन बातों का उत्तर देने में वह लजाकर रह जाती थी, अब बहकाकर बच जाती है। यदि चूड़ियाँ मोर गई और हार टूट गया तो क्या बात है? यमुना पार करनी थी।

नौका मिला नहीं। जल में धँस कर किनारे लगी। इसीसे हार अस्तव्यस्त हो गया, चूड़ियाँ चटक गईं, कुंडल खिसक गए, तिलक धुल गया। श्रृंगार करने के लिए ताल से एक कमल तोड़ा तो भौंरे ने निकल कर अधर पर चिन्ह बना दिया। मार्ग के काँटों में उलझ कर वस्त्र फट गए। जलभरा घड़ा शीश पर रखकर लाई, इसीसे कबरी शिथिल हो गई। सखियों से पीछे पड़ गई; अतः लम्बी-लम्बी साँसें चल रही हैं। मार्ग में दुष्टों ने कुछ अपवाद-जनक बातों का प्रचार किया। उन पर क्रोध करने से कन्ठ से गद्गद् वाणी निसृत हो रही है। वास्तविक स्थिति तो है यह। इस पर बैरिन ननद यदि अन्य अर्थ लगाती है तो यह उसका अत्याचार है!

प्रेम में अनन्य न रहना उसका सबसे बड़ा अपमान है। प्रेम में सब कुछ सहा जा सकता है, प्रेमपात्र द्वारा अन्य का चिन्तन नहीं सहा जा सकता। कृष्ण में सब गुण हैं, पर उनकी

मान और मानभंग

रसिकता अवगुण की सीमा तक पहुँच गई है। राधा के सामने किसी अन्य नायिका का नाम वे भूल से ले बैठते हैं। इस पर आँखों में नीद भरी है, वक्षस्थल पर महावर के चिन्ह हैं, कपोलों पर कुंकुम लगा रह गया है, नख-क्षत यहाँ वहाँ उभरे हैं। राधा की भवें तन जाती हैं। उन्हें बड़ी पीड़ा होती है। यह मानो उनके अतुल सौंदर्य, अनन्त गुणों, अगाध नेह का खुला उपहास है—

एकहि नगर बसु माधव सजनी
पर भामिनि बस भेल।
हम धनि एहनि कलावति सजनी
गुन गौरव दुर गेल॥

इस मान के आवेश में वे एकमात्र कृष्ण से ही अप्रसन्न नहीं हो जातीं, श्याम रंग की जितनी वस्तुएँ हैं उन्हें दृष्टि के सामने से हटा

देती हैं। नीली साड़ी नहीं पहनतीं, नीलम का हार उतार कर फेंक देती हैं, कस्तूरी का तिलक और काजल धो डालती हैं, काले बादलों को नहीं देखतीं, श्याम तमाल पर चूना पुतवा देती हैं। दर्पण में केशराशि श्याम दिखाई देती है, उसे पृथ्वी पर पटककर चूर-चूर कर डालती हैं। सखियाँ समझाती हैं तो बिगड़ पड़ती हैं और अत्यन्त परिताप के साथ कहती हैं—

कबहुँ रसिक सयँ दरसन होए जनु,
दरसन होए जनु नेह,
नेह बिछोह जनु काहुक उपचए,
बिछोह धरए जनु देह,
सजनी दुर करु ओ परसंग ॥

इस भारी मान और कोप को मिटाने के लिए कृष्ण चातुरी से काम लेते हैं। कभी जोगी और कभी जोगिन के वेश में राधा के द्वार पर आते हैं। जब राधा कुछ देना चाहती हैं तब कृष्ण कहते हैं

मनोरथ कर्म जांचलि जदि सुंदरि
मान रतन देइ मोय।

उस खीझ में भी राधा रीझ उठती हैं और समस्त मान एक मुसिकान में बह जाता है।

मान भंग से आगे पदावली में विदग्ध-विलास शीर्षक एक प्रणय-प्रसंग है जिसे यदि विद्यापति बचा जाते तो अच्छा होता। परन्तु उसे बचाना सम्भव नहीं था, क्योंकि जहाँ प्रेम में विदग्ध-विलास शरीर भी चलता है वहाँ यह स्थिति जीवन-नाटक की सारभूमि बनकर अनिवार्य रूप से सामने आती है। विदग्ध-विलास अपने नाम से ही अपने विषय को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है। इसमें उन क्षणों को बाँधने का प्रयत्न किया गया है जो एकदम ऐकान्तिक हैं।

विरह

वियोग संयोग के साथ वैसे ही गुँथा हुआ है जैसे छाया प्रकाश के साथ, ग्रीष्म वसंत के साथ, काँटा पुष्प के साथ। संयोग का सुख जितना ही व्यापक और बहुमुखी होता है वियोग का दुःख उतना ही गहरा और तीव्र। कृष्ण के मथुरा गमन की बात सुनते ही राधा आकुल हो जाती हैं और सखियों से उन्हें रोकने के लिए कहती हैं। अशकुन न घटे इसीसे अपने मुख से मना करना नहीं चाहतीं। पर कृष्ण चले जाते हैं—चले जाते हैं राधा को अगाध दुःख के समुद्र में सदैव को डुबाकर।

दुःख की अनुभूति भावुकता की मात्रा पर निर्भर करती है। जो जितना अधिक भावुक है वह उतना ही अधिक दुखी है। राधा से अधिक भावुक नारी न इस सृष्टि में उत्पन्न हुई और आगे होगी भी, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। राधा और भावुकता जैसे एक ही भाव की दो संज्ञायें हों।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर राधा के दिन भिन्न हैं, रातें भिन्न, गति भिन्न, जीवन भिन्न।

विरह के पदों में सबसे पहली बात है चारों ओर के वातावरण में सूनेपन, एकाकीपन और विषाद की भावना। प्रियतम के बिना घर नहीं भाता, शरीर नहीं भाता, यौवन नहीं भाता। चंदन नहीं भाता, कपूर नहीं भाता, केशर नहीं भाती। शैया तो भाये क्या? सब सूना सूना सा लगता है। वाह्य सृष्टि में अब कुछ सुंदर प्रतीत नहीं होता। सब कुछ दाहक लगता है। एक-एक वस्तु पीड़ा को गहराई देने आती है। भ्रमर पुष्पों का रस ले रहे हैं, पवन मंद गति से बह रहा है, कोकिल कूक रही है, ज्योत्स्ना खिल रही है। प्रकृति का यह हास राधा को और उदास कर जाता है। इसी प्रकार, वर्षा के दिनों में जब बादल

घिरते, वज्रपात होता, अंधकार भर जाता और इस पर घर सूना रहता है, तब नयन और हृदय विषाद की घनी छाया में डूबे रहते हैं, वह अनुभूति से ही सम्बन्ध रखती है।

राधा दिन पर दिन दुबली होती जाती है। मुख पीला पड़ गया, ओंठ सूख गये, वाणी क्षीण हो गई, ग्रीवा की हड्डियाँ निकल आईं। नयनों में झाँई छा गई। थोड़ी-थोड़ी देर में मूर्छित हो जाती हैं। सखियाँ व्यजन डुलाकर शीतल जल के छींटों से उपचार करती हैं, पर परिणाम और भी भयंकर होता है।

प्रतीक्षा का ही अब एकमात्र सहारा रह गया है। पर जब कोई कभी न लौटने के लिए ही चला गया हो तब प्रतीक्षा और भी कसक दे उठती है। अनेक प्रकार की कल्पनाएँ राधा करती है। सोचती है यदि उड़कर कृष्ण के पास जा सकती तो कैसा होता ?

राधा की अनन्यता और कृष्ण की कठोरता दोनों का चित्रण पदों में है। कृष्ण की कठोरता के सहारे राधा की अनन्यता और भी निखर गई है।

राधा यद्यपि कुब्जा और उद्धव का नाम भी लेती है; पर यहाँ इन दोनों को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो सूरदास के पदों में आगे चलकर मिला। विद्यापति ने इस प्रसंग को उठाया मात्र है, बढ़ाया नहीं। राधा सोचती है सबके प्रियतम अपनी-अपनी प्रेमिकाओं का स्मरण करके घर लौट आये, पर कृष्ण किसी के वश में ऐसे हुए कि लौटे ही नहीं। यद्यपि विरह के अंतिम दो पदों में कृष्ण की अधीरता भी प्रदर्शित हुई है पर राधा के प्रेम के सामने वे निर्मोही लगते हैं।

राधा को अपने विरह काल में एक शंका बार-बार होती है,—वे सोचती हैं कि कृष्ण का जो आदर था वह सम्भवतः उनके यौवन और रूप के कारण। अब यौवन रूप की हानि से वह नहीं रहा। इस कल्पना से उन्हें बड़ी पीड़ा होती है। अन्तर के गुणों पर आधारित

न होकर प्रेम जहाँ शरीर-सौंदर्य पर निर्भर रहता है वहाँ इस स्थिति का सामना करने पर न जाने कितने प्राणियों को उस मरोर की अनुभूति होती है जो उनके मन की गहराई में ही घुमड़कर रह जाती है। इतना सब होने पर भी राधा का प्रणय अडिग है। न दोष-दूषकों की बातें उन पर प्रभाव डालती हैं, न कृष्ण की निर्ममता, न विधि का विपरीत विधान। इतना दुःख उन्हें अवश्य है कि कुब्जा जैसी अनधिकारिणी के वश में होकर कृष्ण उस अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करने से वंचित रह गए जो राधा के भरे हृदय के सम्पर्क से उन्हें प्राप्त होता। कुछ मिला नहीं, इस बात का दुःख प्रेमी को नहीं होता, मन भरकर अपना सब कुछ दे भी न पाए इतनी सी साध काँटा बनकर कसकती रहती है। अब विरह सम्बन्धी दो एक मार्मिक उदाहरण देखिए—

क. बनहिं गमन करु होएति दोसर मति
बिसर जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि माँगब
फेरि माँगब पहु तोरा॥

ख. नखर खोआओल दिवस लिखि-लिखि
नयन अँधाओल पिया पथ देखि॥

ग. तेल बिंदु जैसे पानि पसारिए
ऐसन मोर अनुराग।
सिकता जल जैसे छनहिं सूखिए
तैसन मोर सुहाग॥

घ. अंकुर तपन ताप जदि जारब
कि करब बारिद मेह।

इस विरह वर्णन में एक बारहमासा भी है। जायसी ने भी बारह-मासे का सहारा लिया है। पहली बात है इसमें प्रत्येक मास की वस्तुओं का परिगणन, जैसे आषाढ़ में बादलों का घिरना, सावन-भादों में घोर वर्षा का होना, क्वार में सरोवरों में चक्रवाक का खेलना, जाड़े के दिनों में रातों का बड़ा होना तुषार पड़ना, वसंत में कोकिल का कूकना। दूसरी बात सृष्टि से नायिका की अपनी दशा की तुलना है। कभी वह प्रकृति पर दृष्टि डालती हुई कहती है कि भ्रमर पुष्पों का रस ले रहा है, पर उसका नागर बड़ा असयाना है। कभी वह मानव जगत को सामने रखती है। कार्तिक में सभी सुखी हैं; केवल वही दुःखी है। जायसी का बारहमासा आकार में दीर्घ है, अतः उसमें हृदय की जितनी मनोवृत्तियों को स्थान मिला है, उतना इसमें नहीं। फिर भी विद्यापति के बारहमासे की मार्मिकता कम नहीं।

जैसे साधना-जगत में जीव और ब्रह्म की एकता प्रसिद्ध है वैसे ही स्नेह-जगत में प्रेमिका और प्रिय की। यह प्रेम की पराकाष्ठा है। राधा आकुलता की तल्लीनता में अपने को कृष्ण समझने लगती है और राधा-राधा चिल्लाती है। संज्ञा प्राप्त करती है तो फिर कृष्ण-कृष्ण पुकारती है—

अनुखन माधव माधव सुमरत
राधा भेल मधाई।

प्रकृति वर्णन विद्यापति का बहुत सफल नहीं हुआ। विरह वर्णन के अंतर्गत चौमासे और बारहमासे में यद्यपि विभिन्न ऋतुओं की वस्तुओं पर कवि की दृष्टि थोड़ी गई है, पर स्वतन्त्र रूप प्रकृति वर्णन से उसने केवल वसंत का वर्णन किया है। वह भी रूढ़ि-बद्ध है। वहाँ भी अधिकतर वस्तुओं के नाम गिनाए गए हैं—

नव वृन्दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल।
नवल वसंत नवल मलयानिल
मातल नव अलि कूल॥
नवल रसाल मुकुल मधु मातल
नव कोकिल कुल गाय।
नव जुवतीगन चित उमताअइ
नव रस कानन धाय॥

इनके अतिरिक्त जो वर्णन हैं वे रूपकों में बँधे हुए हैं। उनमें कहीं जन्मोत्सव, कहीं युद्ध, कहीं विवाह और कहीं अदालत के सांग-रूपक हैं जिनमें वसंत में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं को विविध रूपों में बाँधा है। इस प्रकार के पद बड़े कृत्रिम और रूखे हैं। ऐसे ही पदों में एक स्थान पर चन्द्रमा के सम्बन्ध में यह कल्पना की है कि दही जम गया है। बसन्त कहीं बालक, कहीं राजा, कहीं दूल्हा और कहीं प्रतिवादी हेमन्त के साथ वादी के रूप में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज और महारानी के सम्पर्क में निरन्तर रहने के कारण विद्यापति को प्रकृति के सौंदर्य के रहस्यों के उद्घाटन का अवसर नहीं मिला। हाँ, जीवन के सुख और उस सुख की मादकता और उस सुख और मादकता की वृद्धि नृत्य करनेवाले एवं संगीत की चर्चा अनिवार्य रूप से वसन्त के वर्णनों में विद्यमान हैं—

मधु रितु मधुकर पाति।
मधुर कुसुम मधु माति॥
मधुर मृदंग रसाल।
मधुर मधुर कर ताल॥
मधुर नटन गति भंग।
[illegible] [illegible] [illegible] संग॥

शृंगारी, भक्त अथवा रहस्यवादी ?

विद्यापति की कविता के कलेवर पर ही यदि दृष्टि डाली जाय तो वे सामान्य रूप से एक शृंगारी कवि ही प्रतीत होते हैं। उनकी पदावली जिस प्रकार नायिका की वयः संधि, नखशिख के वर्णन, सद्यस्नाता के चित्र, प्रेम की अठखेलियाँ, दूती को चतुरता, सखि की शिक्षा, अभिसार की तत्परता, मिलन और विदग्ध विलास के प्रसंग, मान और मान-भंग के दृश्य तथा विरह की व्याकुलता से लहराकर पाठक को अपूर्व प्रेम रस से सिक्त कर देती है, उसमें साधारणतः उसे लौकिक शृंगार की रंगरेलियाँ ही दिखाई पड़ती हैं, और जब पंडित रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् अपने साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि "विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं जिनमें नायिका और नायक राधाकृष्ण हैं। विद्यापति को कृष्ण भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिए।" तब विद्यापति के रसिक प्रेमियों को उन्हें केवल शृंगारी समझने की एक सनद भी मिल जाती है। बात शुक्लजी तक ही नहीं है, अभी कुछ दिन हुए डाक्टर उमेश मिश्र ने कवि के अंतर्हृदय के स्थायी भाव को खोजने का प्रयत्न करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कवि 'केवल शृंगारिक था।' उनका कहना है कि विद्यापति का जीवन प्रायः शृंगार प्रिय लोगों के साथ राज सभाओं में व्यतीत हुआ था तथा विद्यापति न किसी विरक्त भक्तों के सङ्गठन में कभी थे जिनसे उनका भाव भक्ति की ओर उद्बुद्ध होता। फिर विद्यापति के घर मिथिला में ही जो वैदिक काल से दार्शनिक विचारों का केन्द्र रहा है विद्वानों ने इनकी कविताओं का आदर नहीं किया। उनकी यह भी खोज है कि विद्यापति की शृंगारिक कविताएँ केवल शृंगारिक जीवन व्यतीत करनेवाली मैथिली स्त्रियों में ही विशेष आदृत होती हैं। विद्यापति को केवल शृंगारिक कवि मानने का सबसे दृढ़ प्रमाण उनके पास यह है कि मिथिला में विद्यापति को कोई वैष्णव कवि नहीं

मानता और न इन्हें कोई भक्त ही कहता है। बंगाल में विद्यापति जो वैष्णव कवि तथा भक्त कहलाते हैं उसका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि विद्यापति की कविता ने वहाँ राधाकृष्ण की भक्ति की रचनाओं की जड़ बोई थी। डाक्टर उमेश इतना अवश्य मानते हैं कि कवि राधा और कृष्ण के सच्चे स्वरूप से अपरिचित नहीं था, पर साथ ही वह यह कहते हैं कि सच्चा प्रेम जिसे हम राधाकृष्ण की भक्ति कहते हैं कवि ने अपनी कविताओं में कहीं नहीं दिखाया। यदि डाक्टर साहब अपनी खोज को पूर्ण बनाना चाहते तो यह भी कह सकते थे कि विद्यापति के पद 'लखिमा देई तथा सिवसिंघ' के प्रसन्न करने को अन्तःपुर में गाए जाने के लिए लिखे जाते थे और अन्तःपुर ऐसा स्थान नहीं है जहाँ भक्ति की चर्चा की जाय। यदि वे चाहते तो विद्यापति की पदावली से शृंगार के कुछ नग्न चित्र देकर अपने कथन को और भी दृढ़ कर सकते थे। परन्तु सम्भवतः उन्होंने जितने भी प्रमाण दिए हैं उन्हें ही अपनी बात पुष्ट करने को पर्याप्त समझा है। इस प्रकार की अनेक बातें विद्यापति को शृंगारिक सिद्ध करने के लिये कही जाती हैं।

विद्यापति की शिव भक्ति की सादर प्रशंसा की जाती है। एक किंवदंती तो यहाँ तक प्रचलित है कि स्वयं महादेव इनकी भक्ति पर मुग्ध होकर 'उगना' नाम के किसी व्यक्ति के रूप में इनके साथ रहते थे और एक बार जब कवि तृषाकुल था तब उन्होंने अपने कर कमलों से उसे गंगाजल पिलाया था। समझ में नहीं आता कि एक कवि जो किसी भी देवता की भक्ति के इस स्वर्गीय परिवेश से आवृत है वह सांसारिक शृंगार की कलुषतापूर्ण सरिता को कैसे प्रवाहित कर सकता है? प्रसिद्ध है कि विद्यापति पूजा समाप्त करते ही अपने पदों की रचना करते थे। समझ में नहीं आता कि वह समय शृंगार के पंक में फँसने का कैसे हो सकता था? सुनते हैं कि प्रेमावतार

चैतन्यदेव विद्यापति के पदों को गाते-गाते कृष्ण-प्रेम से विह्वल हो अश्रुपात करने लगते थे। समझ में नहीं आता कि लोग उस महात्मा के हृदय की अमलता तथा विद्यापति के पदों में शृंगार की दुर्गन्ध—ये दो विरोधी बातें एक साथ कैसे देखते हैं?

विद्यापति के इस पद को पकड़ कर—

माधव हम परिनाम निरासा
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतए तोहर विश्वासा ॥
आध जनम हम नींद गमायन
जरा सिसु कत दिन गेला ॥
निधुवन रमनि रभस रंग मातनु
तोहे भजब कौन बेला ॥

कुछ लोग समझते हैं कि विद्यापति ने अपना समस्त समय काम-कलापूर्ण कामिनियों के कुसंसर्ग में बिताया और जीवन के कुछ अंतिम दिनों में जब उनकी आँखें खुलीं तो उनका हृदय पश्चात्ताप की अग्नि से गल गया। पर भक्त कवियों में यह प्रथा रही है वे अपने को 'पतितों का राजा' ही कहते हैं। यह उसी प्रथा का अनुमोदन है।

साथ ही इन पंक्तियों में जिसे विद्यापति 'जगतारन' 'दीनदयामय' कहते, जिस पर उनका विश्वास है वे कोई और नहीं 'माधव' हैं। एक ओर लोग इन पंक्तियों को विद्यापति के हृदय की सच्ची प्रेरणा से लिखी मानते हैं, दूसरी ओर उन्हें माधव का भक्त (कृष्ण भक्तों की परम्परा में) नहीं मानते, कैसी विषमता है! जिस तन्मयता के साथ उन्होंने राधाकृष्ण के अलौकिक अमल प्रणय का विशद वर्णन किया है वह भक्ति की ही सीमा तक पहुँचा हुआ है। इसके अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। यदि विद्यापति के शब्दों का सहारा लिया

जाय तो पता चलता है कि वे शिव और माधव में कोई अन्तर मानते ही नहीं थे—

खन गोकुल भये चराइअ गाय।
खन भिख मागिए डमरू बजाय॥

और पहिले जिस पद के आधार पर विद्यापति को जीवन भर रमणियों का सखा मानकर उन्हें कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र से बहिर्गत कर दिया उसी के अन्त की ओर कृष्ण के स्वरूप सम्बन्धिनी ये पंक्तियाँ भी विद्यापति के ही हृदय से निकली हैं—

कत चतुरानन मरि मरि जाओत
न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुन तोहे समाओत
सागर लहरि समाना॥

जहाँ भक्तों ने कृष्ण को सखा, स्वामी, पिता के रूप में देखा है वहाँ उनकी आत्मा ने उन्हें पति रूप में भी पहचाना है। संसार के समस्त सौंदर्य, समस्त प्रेम, समस्त विरह-व्याकुलता को मथ कर कवियों ने एक सुकुमार मंजुल मूर्ति का निर्माण किया। यह मूर्ति है राधा की। राधा और कृष्ण के मध्य होनेवाले अभिसार, मान, विरह और मिलन में 'मधुर भाव' को पुष्टि होती है। राधा का प्रेम इतना प्रबल है कि वे धर्म, कर्म, मान, सम्भ्रम, कुलकानि, विधि विधान सब अपने प्रेमी पर न्यौछावर कर देती हैं। आत्मा को ऐसे उद्दाम वेग से बहने-वाले प्रेम का ही आदर्श उपयुक्त हो सकता है। विद्यापति इसी मधुर-भाव के उपासक थे। उनकी राधा अनन्त सौंदर्यमयी, अनन्त प्रेममयी तथा अनन्त व्यथामयी हैं।

इस रूपमयी, इस छलनामयी, इस कामकेलिमयी, इस प्रेममयी राधा की समस्त लीलाओं का मार्ग जब हम उसी के मुख से सुनते हैं

तो अवाक् रह जाते हैं—कुछ-कुछ उसी प्रकार जब जायसी अपनी प्रेमगाथा 'पद्मावत' को 'अन्योक्ति' पुकारते हैं तब। जो राधा अपने हार को तोड़कर सखियों को बिखरे-मोती बीनने का आदेश इसलिए देती हैं कि इस अवकाश में आँख बचाकर लीला बिहारी को तनिक देख लें, जो राधा अभिसार के समय सर्प को पैर से लिपटा हुआ देखकर उसे इसलिए अपना हितैषी मानती हैं कि अच्छा हुआ नूपुर अब शोर नहीं करेंगे, जो चतुरा राधा केलि के समय कृष्ण से भोली बनकर यह कहती हैं कि 'मेरी गाँठ' में 'सुरत धन' कहाँ है, मैंने तो इसका नाम भी नहीं सुना, अच्छा सखियों से पूछूँगी कि यह वस्तु मेरे घर में है कि नहीं; वही पगली राधा अपने समस्त जीवन के अनुभव को इन अमल-अमर शब्दों में व्यक्त करती हैं—

सखि, कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होय॥
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल।
से हो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल॥
कत मधु जामिनि रभस गमाओल
न बूझल कइसन केल।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल
तइओ हिय जुड़ल न गेल।

यह प्रेम निश्चय ही संसार का कृत्रिम प्रेम नहीं है जिससे प्राणी दो दिन में ऊब जाते हैं। इस प्रेम में काम की दुर्गन्ध कहाँ है? शब्द-शब्द से जैसे आत्मा की विह्वल मूक पुकार मुखरित हो रही है।

इन्हीं पंक्तियों को अंग्रेज़ी बाना पहनाकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर खड़ा किया। उसमें संसार के विद्वान् परमात्मा के प्रति आत्मा की उत्कट अभिलाषा का दर्शन करने लगे:

"It seems to me that I have gazed at your beauty from the beginning of my existence, that I have kept you in my arms for countless ages, yet it has not been enough for me"

नवीन आलोचकों में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में विद्यापति पर विचार करते हुए राधा-कृष्ण के प्रेम को दुहरा-दुहराकर भौतिक और वासनामय बतलाया है। रामकुमारजी आलोचक के साथ कवि भी हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित 'आधुनिक कवि' वाले अपनी रचनाओं के संकलन की भूमिका में अपने सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

"मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। अपने काव्य-जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था। आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है। सम्भवतः यही कारण है कि मैं भौतिक शृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका।"

सौभाग्य से 'रूप राशि' में राधा-कृष्ण सम्बन्धी एक रचना राम-कुमारजी की है —

वृन्दावन का वह रास रंग।
तुम रति सी आई थीं समीप,
मैं ? मैं था उच्छृंखल अनंग।
मेरे हाथों में तन समेट,
घर जाने का था नया ढंग।
मेरे उर तट पर सदा छोड़,

देती थीं साँसों की तरंग।
वृन्दावन का वह रास रंग।

संयोग की ही बात समझिए कि विद्यापति भी स्नान के उपरान्त पद-रचना किया करते थे। यदि इन पंक्तियों को लिखते समय रामकुमारजी की लेखनी की नोंक पर पूजा की पवित्रता आ विराजी हो तो निश्चय समझिए कि विद्यापति ने अपनी बात कहने में थोड़ा ही अधिक अपराध और किया है।

विद्यापति को शृंगारी सिद्ध करने के लिए यह भी कहा जाता है कि भक्त तो वे केवल भगवान् शिव के थे। किन्तु उनकी पदावली के आधार पर इस बात को प्रमाणित करना कठिन होगा। प्रार्थना और नचारी के अंतर्गत जो पद दिए गए हैं उनमें दुर्गा, गंगा, जानकी, शिव, कृष्ण सभी के आराधना-गीत हैं। जैसा जीवनी के प्रसंग में कह चुके हैं हमारी यह दृढ़ धारणा है कि विद्यापति एक आस्तिक हिन्दू मात्र थे। सबको आदर, श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। परम-पुरुष को जैसे वे विविध रूपों में देखते थे, उसी प्रकार महाशक्ति को भी—

(अ) खन पंचानन, खन भुज चारि।
खन संकर, खन देव मुरारि।

(आ) कजल रूप तुअ काली कहिए
उजल रूप तुअ बानी,
रवि मंडल परचंडा कहिए
गंगा कहिए पानी।
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिए
हर घर कहिए गौरी,
नारायन घर कमला कहिए
के जान उतपति तोरी॥

कहीं तो शक्ति को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के ऊपर भी प्रतिष्ठापित किया है—

जगत पालन, जनन, मारण
रूप कार्य सहस्र कारण
हरि विरंचि महेश शेखर चुम्ब्यमान पदे ।

अब सभी देवताओं के प्रति विद्यापति की आस्था को देखिए--

कृष्ण— भनहि विद्यापति शेष शयन मय
तुअ बिन गति नहीं आरा।

राधा— करु अभिलाख मनहि पद पंकज
अहोनिसि कोर अगोर ।

शिव— हर जनि बिसरब मो ममिता,
तुअ सम अधम उधार न दोसर
हम सन जग नहिं पतिता।

देवी— विद्यापति कवि तुअ पद सेवक
पुत्र बिसरु जनि माता ॥

गंगा— जय गंगे जय गंगे
शरणागत भय भंगे ।

जानकी— रे नरनाह सतत भजु ताही
ताहि नहिं जननि जनक नहीं ताही ।

नचारियों के आधार पर जो उन्हें शिवभक्त कहा जाता है वह निराधार-सा है। शिव को एक स्थान पर अवश्य अर्द्धनारीश्वर के रूप में देखा गया है। अधिकतर पदों में शिव के विवाह और गृहस्थी का वर्णन है जिनमें उनका पूरा बावलापन चित्रित है।

एक बात और भी है। पदावली में विद्यापति ने कुच की उपमा अनेक स्थलों पर शिव से दी है। यदि शिव विद्यापति के परमाराध्य होते तो कम से कम ऐसा अनादर तो उनका न करते—

क. कनक सम्भु सम अनुपम सुन्दर ।
ख. उरज सम्भु निरमान ।

अब रहस्य सम्बन्धी धारणा पर आइए—

हिन्दी का आलोचक सम्भवतः इसे अपनी बहुत बड़ी विजय समझता है यदि वह प्राचीन कवियों में ऐसे 'वाद' विशेष खोज सके जिनका भान तक पाठकों को नहीं होता। विरोधाभास में जो एक प्रकार का चमत्कार रहता है उसका सहारा लेकर ये हमारी निर्णीत धारणाओं को सहसा चकित करना चाहते हैं। प्रो० जनार्दन मिश्र ने एक पुस्तक लिख ही डाली जिसमें उन्होंने विद्यापति को पूर्ण रहस्यवादी कवि सिद्ध करने का बीड़ा उठाया है।

विद्यापति रहस्यवादी कवि नहीं हैं। खींचतान करने से कहीं-कहीं अर्थ चतुरता के कारण उनके पदों के दुहरे अर्थ लगाने से उनमें रहस्यवाद बतलाया जा सकता है। यह कवि की प्रतिभा की विशेषता और उससे भी अधिक लेखक के उर्वर मस्तिष्क की ग्राहकता है कि वह एक भक्त में रहस्यवाद के तत्वों को देखे। यह ऐसा ही है जैसे तुलसी द्वारा काशी की प्रशंसा में लिखे निम्नलिखित दोहे में—

मुक्ति जन्म महि जान,
ज्ञान खान अघ हानिकर,
जहँ बस सम्भु भवानि
सो कासी सेइय कस न ?

कोई कट्टर रामभक्त राम की प्रार्थना इस प्रकार ढूँढ़े—
'म' को निश्चय ही मुक्ति को देनेवाला समझ और 'र' ज्ञान की खान तथा अघहानिक (पाप को हानि करनेवाला) है। इस 'र' और 'म' में शंभु-भवानि निवास करते हैं। ऐसे राम नाम का जो शोक के लिए असि (तलवार) के समान (सोकासी = सोक + असी) है, क्यों न सेवन किया जाय ?

इसी प्रकार तत्वान्वेषकों को विद्यापति के पदों में कहीं-कहीं रहस्योन्मुख भावना इस प्रकार लक्षित हो सकती है—

कर धरु करु मोहे पारे
देव मैं अपुरब हारे, कन्हैया ॥
सखि सब तेजि चलि गेली
न जानू कौन पथ भेली, कन्हैया ॥
हम न जाएब तुअ पासे
जाएब औघट घाटे, कन्हैया ॥

हाथ पकड़ कर मुझे (भवसागर से) पार कर दो। मैं उतराई में अपूर्व हार दूँगी (आत्म-समर्पण करूँगी)। सखियाँ तो साथ छोड़ कर न जाने किस मार्ग गईं (मैं आश्रयहीना हूँ)। अभी तक तो तुम्हारे पास न जाने की सोचकर औघट घाट (कुमार्गों पर) जाने का ही निश्चय रहा है।

एत दिन छलि नव रीति रे।
जल मीन जेहन पिरीति रे॥
एकहि बचन बीच भेल रे।
हँसि पहु उतरो न देल रे॥
एकहि पलँग पर कान रे।
मोर लेख दूर देश भान रे॥
जाहि बन केओ नहि डोल रे।
ताहि बन पिया हँसि बोल रे॥
धरब जोगिनिया के भेस रे।
करब मैं पहुक उदेस रे॥

इतने दिन जल-मीन जैसी अभिन्नता थी। अहंकार आने से प्रिय अप्रसन्न हो गए। शरीर में निवास होने पर भी वे दूर की वस्तु बन

गए। एकान्त वन में प्रियतम हँसते बोलते हैं। मैं योगिनी बनकर उनकी खोज करूँगी।

विद्यापति के रहस्यवादी कवि होने में जो सबसे बड़ी आपत्ति खड़ी होती है वह यह है कि रहस्यवादी ब्रह्म के किसी साकार स्वरूप को ग्रहण नहीं करता। उसका प्रिय निराकार ब्रह्म होता है। राम, कृष्ण अथवा शिव नहीं। विद्यापति ने जो कुछ कहा है वह स्पष्टतः राधा कृष्ण, शिव पार्वती सीता राम के सम्बन्ध में ही। परन्तु प्रो० जनार्दन मिश्र इसी बात को विद्यापति की विशेषता बतलाते हैं। इसको क्या किया जाय? उनका कहना है कि 'जो निर्गुणवादी होते हैं वे जीवात्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष के रूप में देखते हैं। किन्तु वह स्वरूप किसी व्यक्ति विशेष या रूप विशेष का द्योतक नहीं होता। स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भाव-सम्बन्ध का केवल वर्णनात्मक रूप होता है। विद्यापति इस सिद्धान्त को ग्रहण करते हुए भी रूप विशेष और व्यक्ति विशेष (राधा कृष्ण; सीता राम, शिव पार्वती) का अवलम्बन कर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को अनुभव करते थे।' एक बार मैंने एक अच्छे दर्जी से एक कमीज़ सिलवाई। कपड़ा काफ़ी था। फिर भी उसने उसमें से कुछ अपने ख़र्च को कतर लिया, क्योंकि मैंने देखा गले के पीछे जोड़ लगा हुआ है। मैंने कहा, मास्टर! कपड़ा तो काफ़ी था, फिर यह जोड़ कैसा है? वह बोला, "बाबू जी, यह लेटैस्ट फैशन है।"

विद्यापति के समय में ब्रह्मवैवर्त पुराणोक्त राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार हो चुका था। आगे चलकर कुछ ऐसा हुआ कि राधा के अनन्य प्रेम की समता जीवात्मा के प्रेम से की जाने लगी। प्रेम के रंग-रहस्यों में अभिसार एक मुख्य वस्तु है और गोपनीय बातों के लिए दूती की भी आवश्यकता पड़ती है, इसलिए राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों में प्रेमिका की कल्पना जीवात्मा से, प्रेमी की परमात्मा से और दूती की

इन्हें मिलानेवाले मार्ग-दर्शक सतगुरु से होने की सम्भावना हुई। इस सम्भावना के बल पर लोग कवि की समस्त रचना को आज रहस्यमयी कहने लगे। परन्तु जब विद्यापति की रचना में आत्मा राधा और परमात्मा कृष्ण के स्वरूप निर्दिष्ट हैं तब कोई कारण नहीं है कि उन्हें भक्त के अतिरिक्त कुछ कहा जाय।

प्रो० जनार्दन मिश्र की धारणा का अनुमोदन करनेवाले व्यक्ति न हों ऐसी बात नहीं।। दीवान बहादुर के० एस० रामास्वामी शास्त्री की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है—भारतीय रहस्यवाद का विकास। उसमें विद्यापति को रहस्यवादी कहा गया है। पर अँग्रेजी के विद्वानों की बात ही दूसरी है। जब वे हिन्दी के कवियों के सम्बन्ध में कुछ कहने का अनुग्रह करते हैं, तब उनके पास इतना अवकाश नहीं रहता कि स्वतन्त्र अनुसन्धान से काम ले सकें। रही दीवान बहादुर साहब की बात। उन्हें उस अध्याय को चलता करने के लिये थोड़े नामों की आवश्यकता थी। यही कारण है कि तुलसीदास तक को रहस्यवादी कवियों में स्थान मिल गया है—

In North India the ancient Hindu mystical tradition centres round Tulsidas and Mira Bai and others in the west and round Vidyapati and Chandidas and others in the East. But probably the great works in the line of traditional Hindu mysticism are Jayadeva's Gita Govind and Chaitanya's songs.

........The Evolution of Indian Mysticism.

अतः जहाँ एक ओर एक विद्वान् को विद्यापति में 'केवल शृंगार' दिखाई देता है, वहीं दूसरे विद्वान् को उनमें 'रहस्यवाद' के तत्व मिलते हैं। परन्तु वास्तव में विद्यापति न केवल शृंगारी हैं—भावुक भक्त

अवश्य हैं, और न रहस्यवादी—हाँ, रहस्योन्मुख भावनाएँ उनके पदों में ढूँढ़ी जा सकती हैं। उनके पद राधाकृष्ण के प्रेम की प्रेरणा से प्रसूत हैं। वे व्यक्तिप्रधान (subjective) नहीं हैं, राधाकृष्ण की ऐकान्तिक लीलाओं के अंकन मात्र हैं जिनमें सभी प्रकार के आवेश के क्षण सम्मिलित हैं, पर ये आवेश के क्षण विद्यापति के नहीं, राधाकृष्ण के ही है।

राधा

राधाकृष्ण जैसी रस-मूर्तियाँ सृष्टि में और कहीं कभी एकत्र हुई, स्मरण नहीं आता और यौवन की पदावली जैसी व्याख्या बाहर कहीं हुई, पता नहीं! परकीया रहकर भी अनन्य अनुरागिनी होने के कारण राधा का नाम कृष्ण के नाम के साथ उनकी सहधर्मिणियों से भी अधिक गुँथ गया। कृष्ण का स्मरण करते समय आज कोई रुक्मिणी-कृष्ण अथवा सत्यभामा-कृष्ण नहीं कहता, सभी राधा-कृष्ण कहते हैं। राधा की प्रमुखता यहाँ तक हुई कि वे संप्रदाय विशेष की आराध्या बन बैठीं। विद्यापति की पदावली में यद्यपि राधा और कृष्ण दोनों की चर्चा है; पर विशेष स्थान राधा को ही मिला है। प्रेम प्रसंग, दूती, सखी शिक्षा, मान और विरह में यद्यपि दोनों को लक्ष्य करके अलग-अलग पद लिखे गये हैं, पर कवि ने राधा के शरीर और मन के सौंदर्य का विश्लेषण अधिक मनोयोग से किया है। इसके अतिरिक्त वयः संधि, नख-शिख, सद्यःस्नाता आदि के प्रसंग तो केवल राधा को लेकर ही हैं। राधा की ओर अधिक ध्यान देने के दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि रूप स्पष्टतः नारी का विशेष गुण है। शरीर की कोमलता और रम्यता बाँटने में कुछ प्रकृति ने ही उसके साथ पक्षपात किया है। कृष्ण भी अनन्य सुन्दर हैं—मनमथ कोटि मथन करु जे जन—पर राधा के अनिर्वचनीय सौन्दर्य के लिये तो कोई विशेषण ही नहीं। दूसरे, विद्यापति में रूप-वर्णन की जो प्रचुरता है वह उनकी परिस्थिति के कारण भी। शिवसिंह के अंतःपुर

के रूप ने राधा की रूप-रेखा निर्मित करने में उनकी बहुत सहायता की होगी। इसका प्रमाण पदों की वह सजीवता है जो सीधे अनुभव से फूटती है। कहीं अलंकारों के आधार पर, कहीं हावों के सहारे और कहीं स्नानागार, पथ अथवा यमुना तट पर राधा को दिखाकर सृष्टि की अनन्त माधुरी से उनके अंग-प्रत्यंग का कवि ने अभिषेक किया है।

इस अनन्त माधुर्य में अपरिमित नटखटपन मिलकर यौवन में अपूर्व रस-ज्वार उठा गया है।

सुन्दरी होने के साथ ही राधा अगाध नेहमयी है। वह यौवन, वह सौंदर्य, वह नटखटपन प्रेम की धारा बन कृष्ण के लिये निवेदित होकर सफल हो गया है। राधा का उपयुक्त साथी सिद्ध होने के लिए ही मानो रसराज ने अवतार लिया था। राधा और कृष्ण का मिलन सौन्दर्य और सौन्दर्य का, आकर्षण और आकर्षण का तथा रस और रस का मिलन है।

पर राधा की ख्याति का जो प्रमुख कारण हुई है, वह है उनकी पीड़ा। जैसी तीखी पीड़ा का अनुभव उन्हें हुआ उसकी कल्पना मात्र से शरीर सिहर उठता है। कृष्ण की निठुरता को जीवन भर प्रतीक्षारत रहकर उन्होंने जिन अश्रुविन्दुओं के सहारे सँभाला उनके पार झाँकने का साहस आज किसमें है?

कला

विद्यापति के पद कला की दृष्टि से पूर्ण हैं। वे आकार में छोटे, भावपूर्ण, सरस और संगीतात्मक हैं। भाव को अधिक विस्तार देने से वह बिखर जाता है, अतः उसे संक्षेप में व्यक्त करने से ही वांछित प्रभाव पड़ता है। संक्षेप का अर्थ यह नहीं है कि बात को सूत्रों में कहा जाय। विद्यापति ने हृदय के उमड़ते भावों को ऐसा उचित आकार दिया है कि उसमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं। एक भी पंक्ति हटाने से समस्त भावधारा विशृंखल हो जायगी। वर्णन में यद्यपि वाह्य शरीर पर विद्यापति की दृष्टि अधिक पड़ी है, पर मन की गहराई में भी वे पूरे

उतरे हैं। यौवन काल का इतना मनोमुग्धकारी और सूक्ष्म वर्णन करनेवाला हिन्दी में दूसरा कवि नहीं है। इन पदों की सरसता तो अद्वितीय है, यहाँ तक कि इसी रस के साथ किसी भी अन्य भाषा में पदावली का अनुवाद असम्भव है।

पदों और गीतों की यह परम्परा वैदिक भाषा, संस्कृत और प्राकृत से होती हुई हिन्दी को प्राप्त हुई। विद्यापति पर जयदेव का थोड़ा प्रभाव है, यह मानना पड़ेगा। कहीं-कहीं तो उनकी किसी-किसी पंक्ति का अनुवाद-सा करके इन्होंने रख दिया है। विद्यापति और जयदेव में कौन अधिक सरस है यह कहना कठिन होगा। सम्भव है संस्कृतवालों को जयदेव अधिक सरस लगें, हिन्दीवालों को विद्यापति। पदों को पढ़ते ही ऐसा लगता है जैसे कोई हमारे प्राणों में मधु-निर्झर उड़ेल और घोल रहा हो। उच्चारण करते ही लगता है जैसे किसी ने मुँह में शहद भर दिया है। विद्यापति का एक-एक पद महाराज शिवसिंह के अन्तःपुर में उस काल की कोकिलाओं द्वारा गाया गया है और वह गूँज आज भी उस प्रदेश में वैसी ही बनी हुई है।

विद्यापति के उपरान्त कबीर, तुलसी, सूर, मीरा आदि ने उस पद परम्परा को पल्लवित किया पर भाव और संगीत का यह अपूर्व सम्मिलन कुछ-कुछ मीरा को छोड़कर दुर्लभ ही रहा। आधुनिक काल में राग का अच्छा परिचय अपनी कृतियों में निरालाजी ने दिया, पर राग रागिनियों की ओर ही अधिक ध्यान देने से वैसी रचनाओं में से अधिकतर या तो भाव-विरल हैं या फिर उनके भाव प्रच्छन्न हैं। भावों और स्वरों का संतुलन इस युग में केवल महादेवी जी के काव्य में पाया जाता है। रश्मि का रचनाकाल समाप्त होते ही वे नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा में भावनाओं और स्वरों को निरन्तर कोमल बनाने में सिद्धकाम हुई हैं।

बंगाल के वैष्णव कवियों और रवीन्द्र नाथ के अतिरिक्त सौन्दर्य

और प्रणय की चर्चा करनेवाले हिन्दी के अनेक परवर्ती कवियों पर विद्यापति का प्रभाव एकदम स्पष्ट है :—

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे
पल्लव राज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने
कनक कदलि पर सिंह समारल
ता पर मेरु समाने।

—विद्यापति।

अद्भुत एक अनूपम बाग
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त
ता पर सिंह करत अनुराग
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर,
गिरि पर फूले कंज पराग।

—सूरदास।

नाभि विवर सयँ लोम लतावलि
भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरमभय
कुच-गिरि-सन्धि निवासा।

—विद्यापति।

साम भुअंगिनि रोमावली,
नाभी निकसि कमल कहँ चली।
आइ दुऔ नारङ्ग बिच भई,
देखि मयूर ठमकि रह गई।

—जायसी।

मदन क भाव पहिल परचार।
भिन जन देल भिन्न अधिकार॥
कटि क गौरव पाओल नितम्ब।
एक क खीन अओक अवलम्ब॥

विद्यापति।

अपने तन के जानि कै
जोवन नृपति नवीन।
स्तन, मन, नयन, नितम्ब कहँ
बड़ौ इज़ाफ़ा कीन॥

बिहारी।

तिल एक सयन ओत जिउ न सहए
न रहए दुहु तनु भीन।
माँझे पुलक गिरि अन्तर मानिए
अइसन रहु निस दीन॥

विद्यापति।

रहिमन एक दिन वे रहे
बीच न सोहत हार।
वायु जो ऐसी बह गई
बीचन परे पहार॥

रहीम।

भाषा विद्यापति की मधुर और स्निग्ध है। आदि से अन्त तक कहीं कर्कशता का नाम नहीं। ओज उत्पन्न करने के लिए कवि लोग परुष शब्दों का आश्रय लेते हैं, पर विद्यापति का ओज शब्दों में नहीं, भावों में निवास करता है। ओज की बानगी उन्होंने दुर्गा की वंदना और शिवसिंह के युद्ध-वर्णन में दिखाई है। इन वर्णनों में

महाराज को कवि ने युद्धवीर, दानवीर और दयावीर तीन रूपों में देखा है। पर विशेषता ऐसी रचनाओं की यह है कि जिन शब्दों से वे माधुर्य की सृष्टि करते हैं उन्हीं से ओज की।

दोनों के उदाहरण लीजिए—

(अ) ससन परस खसु अंबर रे
देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे
जनि बिजुरी रेह।

(आ) तरल तर तरवारि रंगे।
विज्जु दाम छटा तरंगे॥
घोर घन संघात बारिस,
काज दरसेओ रे॥

संस्कृत के पुट के कारण मैथिली भाषा की इन सभी रचनाओं में प्रसाद गुण वर्तमान है। केवल दृष्टिकूट के तीन-चार पद इसका अपवाद हैं। पर उनमें विद्यापति जान बूझकर चमत्कार-प्रिय बने हैं। राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों से प्रार्थना और नचारियों में ठेठ मैथिली का प्रयोग कुछ अधिक है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास तो अपनी समस्त स्वाभाविकता के साथ विद्यापति की भाषा के जैसे चरण पकड़े बैठा है। अर्थालंकारों में कई अलंकारों की चर्चा रूप-वर्णन में हम कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर प्रतीप, रूपक, स्मरण, उल्लेख आदि आए हैं। एक स्थल पर अपन्हुति (पद ४२ कल न वेदन मोहि देसि मदना) का बहुत स्पष्ट और लम्बा उदाहरण पदावली में पाया जाता है। पर उपमाओं और सरस उत्प्रेक्षाओं की तो भरमार है।

विद्यापति में चित्रांकन की कितनी क्षमता थी, इसकी थाह नहीं। इस सम्बन्ध में उनकी बार-बार प्रशंसा करने पर भी जैसे जी नहीं

भरता। एक बार इस कभी न विस्मृत होनेवाले विविध हाव समन्वित, अमित माधुर्य भरे चल-चित्र का चुपचाप निरीक्षण कीजिए :—

अंगने आओब जब रसिया।
पलटि चलब हम ईषत हँसिया।
आबेसे आँचर पिया धरबे।
जाएब हम न, जतन बहु करबे॥
कंचुआ धरब जब हठिया।
करे कर बाँधव कुटिल आध दिठिया॥
रभस माँगब पिया जब हो।
मुख मोड़ि बिहँसि बोलब नहिं नहिं।

विद्यापति मुक्तक के रचयिता हैं, अतः तुलसी, प्रसाद और जायसी जैसे प्रबन्धकारों से तो उनकी समता करना असंगत है, पर सूर, बिहारी, मीरा आदि से उनकी तुलना की जा सकती है। इन्हीं की श्रेणी में वे हैं। वाह्य और आंतरिक सृष्टि के बिखरे सौंदर्य की जो कुशलतापूर्वक फिर से सृष्टि कर सकता है वह चाहे प्रबन्धकार हो तो, मुक्तककार हो तो, प्रचुर परिमाण में लिखे तो, थोड़ा लिखे तो, काव्य की दृष्टि से महान् है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कोई महाकाव्य नहीं लिखा, पर अपने मुक्तकों के बल पर उनकी गणना विश्वकवियों में होती है। रसों में विद्यापति ने अपने को शृंगार तक ही सीमित रखा है, फिर भी उनके काव्य में जो माधुर्य है उसकी प्रतिद्वन्द्विता करनेवाला साहित्य अभी तक तो दिखाई नहीं दिया।

संसार में जब तक यौवन है, रूप है, उमड़ता हुआ मन है; आकर्षण है, मिलन है, विरह का रुदन है, तब तक विद्यापति की पदावली को जरा मरण का भय नहीं।

कबीर

कबीर का जन्म संवत् १४५५ में एक ब्राह्मण विधवा के गर्भ से हुआ। लोक-लाज के भय से मा ने अपने हृदय के इस टुकड़े को काशी के लहरतारा ताल के पास रख दिया जहाँ से नीरू और नीमा नाम के एक सन्तानहीन जुलाहा दम्पति ने संयोग से पाकर उसे उठा लिया और बड़े स्नेह से उसका पालन-पोषण किया। इस बालक का नाम कबीर रखा गया।

बचपन से ही कबीर में विरक्त व्यक्तियों के से लक्षण विद्यमान थे। उनका विवाह भी हुआ, पर संसारी बनकर रहने से उनकी आत्मा घुटती-सी थी। उनकी पत्नी का नाम लोई था जिसे संबोधित करके उन्होंने थोड़े-से पद भी लिखे हैं। इस संयोग से उनके एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। पुत्र का नाम कमाल और पुत्री का कमाली था। कमाल अपने पिता के विपरीत धन-लोलुप और व्यवसायी वृत्ति का था। इसी से कबीर उससे असंतुष्ट रहते थे। कहावत प्रसिद्ध ही है—बूढ़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।

कबीर स्वामी रामानंद के शिष्य थे। स्वयं एक सम्प्रदाय के गुरु होने पर भी कबीर ने अत्यन्त दृढ़ भक्ति अपने गुरु के चरणों में प्रदर्शित की है। कहीं-कहीं तो उन्होंने गुरु को ईश्वर का समकक्षी कहा है।

कबीर पढ़े-लिखे न थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'मसि कागज छूयो नहीं कलम गही नहीं हाथ।' ध्यान की मस्ती में गाते-गाते जो शब्द उनके मुख से निकल जाते थे वे ही कविता का रूप धारण कर लिया करते थे।

कबीर ने पर्यटन खूब किया था और सभी प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में वे रहे थे। प्रसिद्ध है कि सिकन्दर लोदी के वे समकालीन थे। कुछ विरोधियों के भड़काने से सिकन्दर ने उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये; पर कबीर अविचिलित रहे। उनके जन्म, जीवन और महाप्रयाण सम्बन्धी अनेक अलौकिक चर्चाओं का प्रचार जन साधारण में हो गया है, जिन्हें हम श्रद्धा का विकृत रूप मात्र समझते हैं।

भिक्षावृत्ति पर निर्भर रहने वाले वैरागियों में से कबीर न थे। विरक्त होने पर भी अपने पैतृक व्यवसाय को शरीर-रक्षा और साधु-सेवा के लिये वे चलाते थे और कभी-कभी जब साधुओं के आने पर उनके यहाँ खिलाने पिलाने को कुछ नहीं होता था तब उन्हें और उनकी सहधर्मिणी को बड़ी पीड़ा होती थी। ज्ञान और कर्म का ऐसा सुनहला समन्वय बड़ा ही स्पृहणीय है।

गृहस्थ रहकर भी कबीर त्यागी, सदाचारी, सत्यवादी, स्पष्टवादी और और तीव्र आलोचक थे। खरेपन के स्वभाव के कारण उनकी वाणी में कहीं-कहीं उद्दंडता और अश्लीलता आ गई है। वैसे हृदय से वे बड़े कोमल थे। उनके अन्तर की यह कोमलता उनके रहस्य-पदों में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुई है।

कबीर की वाणी का संग्रह बीजक नाम से प्रसिद्ध है जिसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। तुलसी सूर और मीरा की ही भाँति कबीर के पदों और दोहों का प्रचार घर घर में है। कबीर के नाम पर एक संप्रदाय चला जो कबीर-पंथ कहलाता है। उन्होंने जीवन भर हिन्दू मुसलमानों की एकता के लिए उत्कट प्रयत्न किया। उनके इस उपकार को भुलाकर काशी के लोगों ने उनकी वृद्धावस्था में उन्हें बहुत तंग किया। परिणाम स्वरूप अंतिम क्षणों में वे मगहर चले गए और १२० वर्ष की अवस्था में संवत् १५७५ में उन्होंने अपना शरीर त्यागा।

संसार कबीर के लिए दुःख रूप होकर आया था। जगत का दुःख मनुष्य को दो दिशाओं में मोड़ सकता है (१) संघर्ष की ओर (२) उदासीनता की ओर। जो संसार के सुखों का उपभोग करना चाहते हैं वे संघर्ष में लीन हो जाते हैं और पथ के संकटों को कुचलते हुए आगे बढ़ते हैं। ऐसे लोग निराशाओं और असफलताओं को भी लक्ष्य प्राप्ति और सफलता के सोपानमात्र समझते हैं। कुछ लोग भगवान बुद्ध की भाँति जन्म में, रोग में, वृद्धावस्था में, स्नेहियों के बिछुड़ने और अवाँछित व्यक्तियों के मिलन में तथा मृत्यु में दुःख ही दुःख का दर्शन कर व्यक्तिगत रूप से सृष्टि में वैराग्य-दृष्टि जमा लेते हैं। कबीर का अनुभव तीखा और उनका दृष्टिकोण इन्द्रियों के सुख से उपरामता का था—

गुरु

ऐसा कोई ना मिलै जासूं कहूँ निसंक।
जासूँ हिरदै की कहूं, सो फिर माँडै कंक॥
ऐसा कोई ना मिलै, हमको दे उपदेश।
भौ सागर में डूबता, कर गहि काढ़ै केस॥

इस दुःख-दग्ध जिज्ञासु अन्तःकरण को निरन्तर खोज के उपरान्त एक उपयुक्त मार्ग-प्रदर्शक मिला—स्वामी रामानन्द के रूप में। गुरु-प्राप्ति कबीर के जीवन में इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि अपनी रचनाओं में लक्ष्य-सिद्धि के लिए उन्होंने गुरु को एक अत्यन्त विशिष्ट स्थान दिया।

सबसे पहले उन्होंने गुरु की आवश्यकता बतलाई है। जीवन का स्वाभाविक झुकाव पतन की ओर है। ऊपर उठना कठिन है। वह ऊपर उठना चाहे तब भी उसके मार्ग में एक प्रबल बाधा आ उपस्थित होती है। यह बाधा है माया की। रूपासक्ति के कारण मनुष्य दीपक पर पतंगों के समान गिरते और झुलसते चले जा रहे हैं। संसार के साथी अपनी अपनी समस्याओं में ही उलझे हुए हैं, वे क्या साथ

देंगे ? एक गुरु ही ऐसे हैं जो उन्नति के साधक हैं। वे कठिन पंथ को सरल बना देते हैं। संत लोग कहा करते हैं गुरु को अज्ञान नदी का खेवट जो कहा जाता है वह उचित ही है। अपनी भुजाओं के बल पर भरी नदी को पार करना है—गहरा जल है, प्रबल बहाव है, भँवरें हैं, भयंकर जलजन्तु हैं, आकाश के आँधी, मेघ, विद्युत हैं; पर खेवट अनायास ही अपनी तरी के सहारे पथिक को पार उतार देता है। यही दशा संसार-सागर में पड़े साधक की है। पथ-प्रदर्शक का सहारा पाने से अगम अपरिचित मार्ग सहज हो उठता है।

अज्ञान के घोर तम से आवृत शिष्य के साधना-पथ में गुरु ज्ञान का उज्ज्वल आलोक विकीर्ण करता है। वह हृदय में भगवान का प्रेम भरता, पथ पर दृढ़तापूर्वक चलना सिखलाता, दुर्बलताओं पर विजयी होने की शक्ति प्रदान करता और अन्त में ईश्वर से ही मिला देता है—

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथ।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथ॥
सतगुरु की महमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावन हार॥

वे यद्यपि इस बात को जानते थे कि संसार में लोभी और बनावटी गुरु भी होते हैं, पर इन्हें गुरु की संज्ञा देना ये उचित न समझते थे। जो जीव को निर्मल कर दे उसी को वे गुरु मानते थे। ऐसे गुरु की महत्ता का वर्णन क्या सम्भव है ? पर कबीर ने हृदय खोल कर उनकी प्रशंसा की है। यदि शिष्य को सफलता नहीं मिलती तो इसमें उन्होंने अधिकतर शिष्य का ही दोष बतलाया है। छिद्रभरी वंशी में कोई कितने ही रहस्य का मंत्र फूंके; वहाँ क्या कुछ ठहर जाता है ? अपने गुरु को 'पूर्ण' और 'पारस' कहने से ही उनका मन नहीं भरता, स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही कह देते हैं—

गुरु गोविंद तो एक हैं दूजा यह आकार।

गुरु की इस महत्त्वगुरुता के आलेखन में हमें तो कबीर के हृदय की महत्ता ही लक्षित होती है। सच बात यह है कि स्वामी रामानन्द का सम्पर्क उनकी साधना के लिए एक बहाना मात्र था। रामानन्द ने जनता को समझाने का जो पथ दिखाया उस पर कबीर चले नहीं। उस पथ के समर्थक तो गोस्वामी तुलसीदास थे। योग के आधार पर जिस आलोक के दर्शन से उनकी आत्मा तृप्त हुई वह उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्र साधना का फल था। फिर भी इस कृतज्ञता – प्रदर्शन में उनके अन्तर की सात्विकता का आभास तो मिलता ही है। बहुत सम्भव है यह आदर्श उन्होंने अपने शिष्यों के अनुकरण के लिए भी छोड़ा हो।

कबीर के राम निर्गुणवादी कबीर की रचनाओं में सगुण के प्रतीक राम नाम की भरमार देखकर आलोचकों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं—

१. राम शब्द उन्हें रामानन्द से मिला, अतः पहले वे भक्त रहे। उस आवेश में भक्ति की रचनाएँ लिखीं। प्रारंभिक रचनाओं को नष्ट तो नहीं कर सकते थे।

२. किसी रामोपासक ने उनके दोहों और पदों में भक्ति के दोहे और पद मिला दिए जिससे वे रामानन्द की रामोपासक शाखा में गिने जावें।

३. ज्ञान भक्ति से आगे का सोपान है, अतः स्वाभाविक था कि पहले कबीर भक्ति की ओर झुकते, फिर ज्ञान की ओर।

ऐसी और इस प्रकार की और भी कल्पानाएँ क्यों होती हैं समझ में नहीं आता? ऐसा लगता है कि कबीर को पूरा पढ़ा नहीं जाता। उनकी वाणी को रूखा समझ कर यहाँ वहाँ से धारणा बना कर लिखते समय जो समझ में आता है वही प्रामाणिक मानकर अंकित कर दिया

जाता है, या फिर एक ही बात को शब्दों के थोड़े हेरफेर के साथ प्राचीन उद्धरणों में कुछ काट-छाँट करके अपना लिया जाता है।

तथ्य यह है कि कबीर का राम ब्रह्म का पर्याय था। इस ब्रह्म को अनेक रूपों में जन-साधारण ने अपनाया है। कबीर क्योंकि किसी धर्म सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं रखते थे, अतः नाम विशेष पर सम्प्रदाय विशेष की छाप मानकर उसका परित्याग उन्होंने नहीं किया। उन्होंने ईश्वर के प्रतीक सभी नामों का प्रयोग बिना किसी भेद भाव के (Indiscriminately) किया—

१. हरि रस जे जन बेधिया।
२. राम कहे भला होइगा।
३. दान एक माँगों कमलाकंत।
४. गोव्यंदा गुण गाइ रे।
५. कहै कबीर भजि चरन मुरारि।
६. भगवंत भगति सहेत।
७. अच्यंत च्यंत ए माधौ।
८. अनंत कला नटवर गोपाल।
९. दास कबीर भज सारंगपानि।
१०. कहै कबीर रघुनाथ सूं।
११. क्रुसन कृपाल कबीर की।
१२. खालिक पनह तुम्हारी।
१३. करम करीमा लिख रह्या।
१४. अलह अलख निरंजन देव।

आदि......

इन विविध नामों की एकसूत्रता को कबीर ने स्वयं थोड़ी व्याख्या के साथ एक पद में स्पष्ट कर दिया है—

अलह अलख निरंजन देव ।
किहि बिधि करौं तुम्हारी सेव ॥
बिश्न सोई जाको बिस्तार ।
सोई कृश्न जिनि कियौ संसार ॥
गोव्यंद जो ब्रह्मडहि गहै ।
सोई राम जे जुगि जुगि रहै ॥
अलह सोई जिनि उगति उपाई ।
दस दर खोलै सोई खुदाई ॥
लख चौरासी रब परवरै ।
सोई करीम जे एती करै ॥
गोरख सोई ग्यांनि गमि रहै ।
महादेव सोई मन की लहै ॥
अपरंपार का नांउ अनंत ।
कहै कबीर सोई भगवन्त ॥

परन्तु कबीर थे निर्गुण के ही उपासक । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी ओर से ही सन्देह को स्थान नहीं छोड़ा—

(अ)　पूजा करूँ न निमाज़ गुजारूं
　　एक निराकार हिरदै नमस्कारूं ॥
(आ)　जोगी गोरख गोरख करै ।
　　हिन्दू राम राम उच्चरै ॥
　　मुसलमान का एक खुदाई ।
　　कबीर का स्वामी रह्या समाई ॥
(इ)　निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई ।

अपने इस निराकार निरंजन स्नेही के प्रति आत्मनिवेदन के लिए कबीर ने बहुत से नामों के साथ एक नाम मुख्य रूप से चुन लिया है । वह है राम । इस राम का यह स्वरूप है—

जो जाँचों तो केवल राम।
आंन देव सूं नांही काम॥
जाके सूरिज कोटि करें परकास।
कोटि महादेव गिरि कविलास॥
ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरैं।
दुर्गा कोटि जाकै मरदन करैं॥
कोटि चन्द्रमा गहैं चिराक।
सुर तैतीसूं जीमें पाक॥
कोटि कुबेर जाके भरै भंडार।
लक्ष्मी कोटि करै सिंगार॥
कोटि पाप पुनि व्यौहरैं।
इन्द्र कोटि जाकी सेवा करैं॥
वासिग कोटि सेज बिस्तरैं।
पवन कोटि चौबारैं फिरैं॥
कोटि समुद्र जाकै पणिहारा।
रोमावली अठारह भारा॥
कंद्रप कोटि जाकै लांवन करैं।
घट घट भीतरि मनसा हरैं॥
बिद्या कोटि सबै गुण कहैं।
पार ब्रह्म कौ पार न लहैं॥

इन सभी और अनेक उद्धरणों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कबीर अवतारी राम के भक्त कभी नहीं रहे। राम शब्द को अपनी बात समझाने की दृष्टि से महा ब्रह्म का एक प्रतीक मान कर उन्होंने ग्रहण किया। वे चाहते तो और कोई नवीन नाम भी दे सकते थे; परन्तु उन्होंने जन साधारण में प्रचलित नाम को ही चुन लिया। इससे उनके आन्तरिक भाव को ग्रहण करने में भ्रांति नहीं होनी चाहिये। उनकी मानसिक उन्नति के सोपान कर्म, भक्ति, ज्ञान नहीं रहे, प्रारम्भ से अन्त तक ज्ञान की ही अनेक सरणियाँ रहीं।

ये राम कल्याणकारी हैं, जीवन का सार हैं, अहंभाव विनाशक हैं। उनके ध्यान से जीवन के ताप-शाप शान्त होते हैं। उन्होंने ही माता के गर्भ में हमारी रक्षा की थी। वे सर्व-व्यापी हैं; पर हृदय में प्रकट हो जाते हैं। उनके विधान में कोई अन्तर नहीं डाल सकता। वे समर्थ हैं—पशु, पक्षी, कीट, पतंगा सभी को नित्य प्रति भोजन देते हैं। वे करोड़ों जन्मों के पापों को अपने अनुग्रह से पल भर में नष्ट कर देते हैं। उनके चिन्तन में जो रस है वह अनुपम और अनिवर्चनीय है। उस रस के अनुभवी को सांसारिक विषय वासना का रस बहुत फीका लगता है। हमारे कुटुम्बी, हमारे मित्र, विद्वान् लोग, ज्ञान के ग्रन्थ—इनमें से कोई अपना नहीं है, केवल राम ही जीवन-मरण के सच्चे साथी हैं। वे आवागमन के बन्धन को काटने वाले और उस माया की शक्ति को जो जीव को रातदिन नचाती है व्यर्थ करने वाले हैं। ऐसे राम का ज्ञान न होने से तो जिह्वा का गलना अच्छा था, मनुष्य का शूकर की योनि प्राप्त करना अच्छा था; मा का गर्भ गिर जाना अच्छा था, जननी का विधवा होना कहीं अच्छा था। ऐसे राम का केवल नाम ही रटने से कुछ नहीं होता। नाम तो तोता भी रट लेता है, पर वह उसके महत्त्व को नहीं जानता। अतः साधना के क्षेत्र में अनुभव ही मुख्य है—

(क) ऊपर की मोहि बात न भावै।
परचे बिना मरम को पावै॥

(ख) चलि चलि रे भंवरा कंवल पास।
तेरी भँवरी बोलै अति उदास॥
तै अनेक पहुप कौ लियो भोग।
सुख न भयौ तब बढ़यौ है रोग॥
हौं जु कहत तोसूं बार बार।
मै सब बन सोध्यौ डार डार॥
दिना चारि के सुरंग फूल।

तिरहि देखि कहा रह्यो भूल ॥
या बनास्पति में लागेगी आगि ।
तब तू जैहै कहाँ भागि ।
कहैं कबीर मन कौ सुभाव ॥
राम गति बिन जम को डाव ॥

(ग) सात समंद की मसि करौं ।
लेखनि सब बनराइ ॥
धरती सब कागद करौं ।
तऊ हरि गुन लिख्या न जाइ ॥

कबीर की तीन चथाई कविता उपदेशों से भरी हुई है । कहना चाहिए कि काव्य का उपयोग वे लोक-मंगल के लिए उपदेशक कबीर करते थे । इन उपदेशों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:—

१. संसार के प्रति विरक्ति और भगवान के चरणों में अनुरक्ति को दृढ़ करने वाली रचनाएं ।

२. मानसिक विकारों पर उनके व्याख्यान ।

३. मिथ्याचारों का खंडन ।

शारीरिक सौंदर्य और सांसारिक वैभव दो बहुत बड़े आकर्षण मनुष्य के सामने हैं। कबीर ने दोनों के प्रति अरुचि उत्पन्न कराने का प्रयत्न किया है । शरीर को कहीं धूलि की पुड़िया, कहीं धूंए का महल, कहीं काठ की हाँड़ी ,कहीं वृक्ष से झड़ा फल ,कहीं पानी का पुतला बतलाया है । इस प्रकार उसकी असुन्दरता और निस्सारता पूर्ण रूप से व्यक्त की है । विरक्ति दृढ़ करने के लिए ही शरीर को गन्दा तक कहा है । कहते हैं, शरीर क्या है हड्डियों पर मढ़ा चमड़ा ही तो है ? चन्दन और सुगन्धित द्रव्यों से इसे शुद्ध करने वाले मनुष्यों की उन्होंने मजाक सी उड़ाई है । अवयवों के लावण्य पर दृष्टि न जाकर शरीर की विकृति

पर कबीर की दृष्टि प्रायः जाती है। इसका अन्तिम परिमाण प्रायः उनकी आंखों में घूमता रहता है। श्मशान को पृष्ठभूमि में रखकर कबीर इसे शूकर, कुत्ता, कौआ और कीड़ों का भोजनमात्र समझते हैं। यही दृष्टिकोण उनका संसार के प्रति है। उसे वे हाठ मात्र, स्वप्नमात्र सराय मात्र समझते हैं। महाराजाओं का वैभव नहीं रहा, तब सामान्य मनुष्य की सत्ता क्या है? मनुष्य और संसार की अस्थिर स्थित का दिग्दर्शन कहीं-कहीं उन्होंने एक ही दृश्य द्वारा सफलता पूर्वक कराया है—

जैसे तरवर बसत पखेरू
दिवस चारि के बासी।

कबीर के उपदेशों की दूसरी भूमि मन और उसके अनन्त विकार हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने सामान्यरूप से हिन्दू महात्माओं का अनुसरण किया है। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार की बार-बार निन्दा की है। इस निन्दा में कोई नवीनता नहीं है। ऐसी बातें सुनते सुनते हम उकता गए हैं--मन चंचल है, वश में नहीं रहता, विकारों से भरा है, माया में लिप्त है, कंचन और कामिनी की ओर जाता है। कामिनी कबीर के शब्दों में विष के समान है, नरक के समान है, जूठी है, दुर्गन्ध से भरी है, भक्ति-ज्ञान को नष्ट करने वाली है। और भी न जाने क्या क्या है!

काम, मोह, अहंकार, कुसंग आदि असद् वृत्तियों के तिरस्कार के साथ ही उन्होंने भक्ति, संतोष, नम्रता, सत्य, सुसंग आदि की हृदय खोलकर प्रशंसा की है। कबीर में सदसद्विवेक पूर्णरूप से विद्यमान था। स्त्रियों की जो निन्दा उन्होंने की है वह पर-स्त्री प्रसंग में जिसका समर्थन शायद ही कोई उल्लू करे। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए हृदय की उज्ज्वलता पर उन्होंने ज़ोर दिया है—

हरि को नाव न लेइ गंवारा।
क्या सोचै बारं बारा॥
पंच चोर गढ़ मंझा।
गढ़ लूटैं दिवस र संझा॥

जो गढ़पति मुहकम होई।
तो लूटि न सकै कोई॥
अँधियारे दीपक चहिए।
तब वस्त अगोचर लहिये॥
जो दरसन देख्या चहिये।
तो दरपन मंजत रहिये॥
जब दरपन लागै काई।
तब दरसन किया न जाई॥
का पढ़िये का गुनिये।
का वेद पुराना सुनिये॥
पढ़े गुनें मति होई।
मैं सहजैं पाया सोई॥

उपदेशों का एक रूप वह है जहाँ मिथ्याचारों पर आक्रमण करते समय उनमें उग्रता आ जाती है। उसमें कबीर के स्वभाव का उतना दोष नहीं है जितना उस समय के बिगड़े समाज का। उन्होंने जो कुछ कहा था सद्भावना से प्रेरित होकर—

कहै कबीर मैं हरि गुन गाऊं।
हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं॥

उन्होंने देखा कि मनुष्य बाहर बाहर से तो उजले कपड़े पहने फिरते हैं, भीतर से बड़े गन्दे हैं, ऊपर से माला फेरते हैं, भीतर उनके कपट भरा है, सिर मुड़ा है, मन विषय की कालिमा से पुता है, छापे तिलक लगा रखे हैं, हृदय भक्ति से सूना है। उन्होंने देखा कि मनुष्य की 'कथनी' और 'करनी' में सामंजस्य नहीं है। वह मन्दिर-मस्जिद काशी-काबे की ओर दौड़ा चला जा रहा है, पर हृदय में संतोष नहीं है। हिंसा करता है, ठग है, लोभ-परायण है, व्यभिचारी है।

हिन्दू मुसलमानों के आचार व्यवहारों, संस्कारों और पावन विचारों पर कबीर को निर्दयता से आक्रमण करते बतलाया गया है। इस बात के समझने में भूल हुई है। निश्चय ही उन्होंने तीर्थ, व्रत, मूर्ति पूजा, बलिदान, जप-तप आदि का खंडन किया है, परन्तु जब वे देखते थे कि इनमें से प्राण निकल गए हैं केवल शवमात्र रह गया है, तब उसे कलेजे से चिपटाये फिरने का उपदेश वे कहाँ तक देते? शक्ति के उपासकों की उन्होंने जो निन्दा की है वह उनके भ्रष्ट आचरण को सामने रख कर। जहाँ आचरण का प्रश्न खड़ा होता है वहाँ वैष्णवों का तिरस्कार करने में भी वे नहीं चूके। कबीर के वास्तविक दृष्टिकोण को सामने रखने वाले कुछ उदाहरणों पर दृग्पात कीजिए—

(१) कबीर यह जग अंधला
जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया
ऊभी चाम चटाइ॥

(२) संसारी साकत भला
कंवारी के भाइ।
दुराचारी वैस्नों बुरा
हरिजन तहाँ न जाइ॥

(३) जप, तप, संजम, पूजा, अरचा
जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना
मन ही मन न समाना॥

(४) तीन बार जो नित प्रति न्हावैं
काया भीतर खबरि न पावैं।
देवल देवल फेरी देहीं
नाम निरंजन कबहु न लेहीं॥

(५) हृदय कठोर मरैं बानारसि

(६) जेती औरत मरदां कहिए
सब में रूप तुम्हारा ॥

(७) ऊंचे कुल क्या जनमिया
जे करणी ऊंच न होइ।
सावन कलश सुरै भरया
साधूं निंद्या सोइ ॥

(८) जोरी करि जिबहै करैं
कहते हैं ज हलाल।

(९) ज्ञान मूल गंवाइया
आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला
मन में रहै डरता ॥

कबीर ने सन्त जीवन से सम्बन्धित सभी बातों जैसे सत्य, अहिंसा, कुसंग, दया, क्रोध, लोभ, मोह, जन्म, मृत्यु, भक्ति, ज्ञान वैराग्य पर विस्तार और स्पष्टता से विचार किया है। ब्रह्म मिलन में सबसे बड़ी बाधा कबीर की दृष्टि में माया है। माया सम्बन्धिनी तीन बातें उनके दोहों और पदों में पायी जाती हैं—

(१) माया का स्वरूप
(२) माया की शक्ति
(३) माया के प्रति कबीर की विरक्ति।

माया का प्रतिनिध कहीं मन माना है, कहीं वैभव, कहीं सांसारिक सम्बन्धियों को, कहीं कर्मेन्द्रियों को, कहीं कंचन कामिनी को ही और कहीं सम्पूर्ण प्रसार को। इस माया के प्रभाव से कोई नहीं बचा—न योगी, न यति, न मुनि पीर पैगम्बर, न सनक सनंदन, न शिव विरंचि नारद। प्रियतम से पृथक करने वाली इस माया को कबीर ने निकृष्टतम नामों

से पुकारा है। उसे कहीं पापिनी, कहीं डायन, कहीं ठगिनी और कहीं वेश्या कहा है। माया के इस जाल को देखिए —

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूटा, नागपुर लूटा
तीन लोक मचा हा हा कार।
ब्रह्मा लूटे, महादेव लूटे
नारद मुनि के परी पिछार।
सिंगी की मिंगी कर डारी
पारासर के उदर विदार।
कनफूंका चिदकासी लूटे
लूटे जोगेसर करत विचार।
हम तो बचिगे साहब दया से
सब्द डोर गहि उतरे पार।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
इस ठगिनी से रहो हुसियार।

अपने उपदेशों में कबीर सबसे अधिक बल समता पर देते थे। एक ओर वे समाज कृत विभेदों को कृत्रिम समझ कर दूर करना चाहते थे—

(क) एक बूंद एक मल मूतर
एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनां
कौन ब्राह्मन कौन सूदा।

(ख) राम रहीम जपत सुधि गई
उन माला, उन तसबी लई।
कहै कबीर चेतहु रे भोंदू
बोलन हारा तुरक न हिंदू।

(ग) कौन पुरुष कौन नारी?

दूसरी ओर मन से द्वैत के भ्रम को हटाना चाहते थे। प्रसार के विभेदों में एक तत्व की व्यापकता ही वे मानते थे। इस सम्बन्ध में अपने पूर्ण अद्वैतवादी होने का परिचय उन्होंने दिया है—

(च) माहीं एक सकल संसारा।
बहु विधि भाँडे घड़ै कुम्हारा ॥
पंच बरन दस दुहिए गाई।
एक दूध देखो पतियाई ॥
कहै कबीर संसा करि दूरि।
त्रिभुवन नाथ रहा भरिपूरि ॥

(छ) कासूं कहूं कहन को नाहीं
दूसर और जनाँ।
ज्यूं दरपन प्रतिव्यंब देखिए
आप दवा सूं सोई।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै
महा प्रलै जब होई ॥

(ज) हम तो एक एक करि जाना।
दोइ कहैं तिनही कौ दो जग
जिन नाहिन पहचाना।
जैसे बाढ़ी काष्ट की काटै
अगिन न काटै कोई।
सब घट अंतर तू ही व्यापक
धरै सरूपै सोई ॥

(झ) आप आप खेले।
रूप धरै, धरि मेलै।

आत्मा परमात्मा की पारस्परिक प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते हैं। कबीर हिन्दी के प्रथम महान रहस्यवादी कवि हैं।

रहस्यवाद

यद्यपि उन्होंने उस महाचेतन को माता, पिता और सखा रूप में भी कहीं कहीं संबोधन किया है, पर उनका विशेष झुकाव अपने को पत्नी और ब्रह्म को पति रूप में देखने दिखाने का है—

(अ) हरि जननी मैं बालक तोरा।
(आ) बाप राम सुनि बीनती मोरी।
(इ) दोस्त कबीरा कौन।
(ई) हरि मोरा पीव मैं हरि की बहुरिया।

ब्रह्म के प्रति कबीर के हृदय में प्रेम वैराग्य के मार्ग से आया है। कबीर संसार को दुःखरूप, क्षणभंगुर और माया का प्रसार समझते थे। विषयों में लीन जीव को देख उनके प्राण जैसे कराह उठे और उसकी निर्मलता को फिर लौटाने के लिए वह आकुल हुए। उस आकुलता का परिणाम था उनका चिन्तन। चिन्तन ने उन्हें ब्रह्म की व्यापकता का ज्ञान कराया और इस निर्णय पर पहुँचाया कि जिस निरुपाधि शक्ति को हिन्दू मुसलमानों ने मन्दिर मस्जिद के कटघरों में बन्द कर दिया है वह घट-घट में बसी हुई है, कण-कण में व्याप्त है। उन्होंने विरोध की चिंता न करते हुए इस सत्य की घोषणा की। तब उनका साध्य प्रेम का पात्र बन गया, चिन्तन अनुराग में परिवर्तित हो गया, सिद्धान्त अनुभूति में बदल गया, दर्शन सत्य के साँचे में ढल गया।

कबीर का रहस्यवाद अधिकांश में हठयोग पर आधारित है। अतः उनकी रचना के बहुत से पारिभाषिक शब्दों, प्रतीकों और साधनास्तरों को समझने के लिये इस सम्बन्ध की थोड़ी जानकारी हो जानी चाहिए।

योग की क्रियाओं द्वारा अन्त में आत्मा का परमात्मा से संयोग हो जाता है। इसी से इस विद्या का नाम योग है। योग कोई कल्पना

अथवा भावना की वस्तु नहीं, एक क्रियात्मक साधना है। योग दो प्रकार का होता है (१) हठयोग (२) राजयोग। हठयोग के द्वारा साधक शरीर को अपने वश में करता है, राजयोग के द्वारा मन को। शरीर और मन पर अधिकार होते ही व्यक्ति वीतराग हो जाता है।

हमारे शरीर में जो मेरुदंड या रीढ़ की हड्डी है उसके भीतर से एक नाड़ी जाती है। उसका नाम है सुषुम्ना। सुषुम्ना की बाँईं ओर की नाड़ी इड़ा और दाहिनी ओर की पिंगला कहलाती है। ये तीनों नाड़ियाँ त्रिकुटी पर (नासिका के ऊपर दोनों भौहों के बीच) मिलती हैं। इड़ा पिंगला इधर उधर हो जाती हैं, सुषुम्ना ऊपर की ओर तालुमध्य तक पहुँचती है। इड़ा का नाम वरुणा और पिंगला का असी भी है, इसी से जहाँ ये मिलती हैं उसे वाराणसी (काशी) भी कहते हैं। इड़ा और पिंगला क्रमशः गंगा यमुना भी कहलाती हैं—

सुषुम्ना में छह चक्र हैं—

(१) मूलाधार	४ दल का	सुषुम्ना की जड़	में
(२) स्वाधिष्ठान	६ दल का	उससे कुछ	ऊपर
(३) मणिपूर	१० दल का	नाभि	में
(४) अनाहत	१२ दल का	हृदय	में
(५) विशुद्ध	१६ दल का	कठ	में
(६) अज्ञा	२ दल का	त्रिकुटी	में

सुषुम्ना के मूल में कुंडलिनी रहती है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद है। इसका आकार कुंडली मारे सर्प जैसा बतलाया जाता है। कुछ संतों का कहना है कि यह एक प्रकार की वायुमात्र है। कुछ कहते हैं यह एक अत्यन्त सूक्ष्म नस है। सुषुम्ना के अन्त में तालुमध्य में एक चक्र है जिसे सहस्रदल कमल कहते हैं। यहीं एक छिद्र है जिसे शून्य कहते हैं। इसी में योगी अनहदनाद सुनते हैं। प्राणायाम की शक्ति से चक्रो को पार करती हुई कुंडलिनी जब यहाँ पहुँचती है तब एक

उज्ज्वल आलोक के दर्शन साधक को होते हैं। इसी को ब्रह्म के दर्शन कहते हैं। यहीं त्रिकोणाकार एक चन्द्रमा है जिससे बहने वाले रस को सुधा कहते हैं। इसकी शक्ति से अपरिचित व्यक्तियों की यह सुधा पसीने या मलमूत्र के मार्ग से निकल जाती है। मूलाधार चक्र में अवस्थित सूर्य द्वारा भी यह असावधानी के कारण सूख जाती है। साधुओं का कहना है कि जो इस सुधा को रोकना जानता है वह वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता और जब तक चाहे जीवित रह सकता है। हठयोग के इन्हीं पारिभाषिक शब्दों के आधार पर वंशी का बजना (अनहदनाद), रस गगन गुफा में अजर झरे (शून्य में स्थित चन्द्रमा से सुधा-स्राव होना), नदियों (इड़ा पिंगला) का बहना, काशी (त्रिकुटी), सूर्य चन्द्र का उगना आदि समझ में आ सकते हैं।

ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण में कबीर ने अनेक उपायों का अवलम्बन लिया है। पहली स्थिति में वे उन्हें अनिर्वचनीय कहते हैं। अपनी इस विवशता को उन्होंने कहीं, 'अकथ' कहीं 'अद्‌भुत' कहीं 'सबद अतीत' और कहीं 'गूंगे का गुड़' कहकर प्रकट किया है। दूसरी स्थिति में नकारात्मक शैली का प्रयोग किया है। अवर्ण, अविनाशी, अलख, ना हल्का ना भारी, कहा है। तीसरी स्थिति में उन्होंने अपने निर्णय को कुछ निश्चित रूप देने का प्रयास किया है। इसी प्रयास का फल है—पानी हूँ ते पातला धूंआ हूँ ते झीण पवना वेग उतावला आदि। पर जैसा कि हठयोग के आधार ग्रहण करने वाले को अनुभव होता है उस परम तत्व को उन्होंने अपरिमिति प्रकाशपुंज कहा है—

(१) परम जोति परकास।

(२) कबीर तेज अनंत का मानो ऊगी सूरज सेणि।

(३) तेज पुंज पारस धणीं।

इस प्रियतम के मिलन में एक ही वस्तु बाधक है—वह है माया। जिन दिनों माया परमात्मा को दूर रखती है उन दिनों का बड़ा ही

हृदय-द्रावक वर्णन कबीर ने किया है। इस विकार मन पर उन्हें बड़ी झुंझलाहट उत्पन्न होती है। सोचते हैं "इस मन को मैदा करौं, नान्हा करि करि पीस।" समाज की कुरीतियों पर निर्दयतापूर्ण आघात करने वाले, मुल्लाओं और पंडितों को निर्भीक होकर खरा-खरा सुनाने वाले सयमी संत कबीर का हृदय कितना कोमल था यह केवल उनके विरह वर्णन से ही जाना जा सकता है। सत्य यह है कि जो कोई भी प्राणी के बाह्य आवरण और आकार के आधार पर निर्णय देगा वह सदैव धोखा खायगा। कबीर अपनी दशा को समता कभी प्यासे चातक, कभी व्याकुल मछली, कभी पिंजड़े में बद्ध सुआ, कभी घायल पक्षी और कभी सर्प से डसे शरीर की बेचैनी से करते हैं। इतना करने पर भी जैसे वे अपनी दशा का ठीक ठीक निरूपण नहीं कर पाते। इसी से वे कहते हैं कि उनकी वास्तविक दशा को सुनने वाले उसी प्रकार नहीं जान पायेंगे जैसे प्रसव की पीड़ा को बन्ध्या लाख कल्पना करने पर भी अनुभव नहीं कर सकती—

(क) जद सर जल परिपूरिता चात्रिग चलहि उदास।

(ख) तन मन खोजों चोट न पाऊँ।

(ग) वे दिन कब आवेंगे माई?
जा कारन हम देह धरी है
मिलबो अंग लगाई।

(घ) बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिना कछू समझि न परई
बाँझ न जानै पीरा।

न्यूमैन ने ठीक ही कहा है—

If this soul is to go on into higher spiritual blessedness, it must become a woman; yes, however manly you may be among men.

इस विरह के उपरान्त साधना की समाप्ति पर कबीर का अपने प्रियतम से मिलन होता है और उस मिलन से जो तृप्ति होती है उसके

अत्यन्त विशद वर्णन कबीर की रचनाओं में पाए जाते हैं। मिलन के लिए उन्होंने विवाह का प्रतीक पूरे रूपक के साथ स्वीकार किया है—

दुलहनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार॥
तन रति करि मैं मन रत करि हौं
पंच तत बराती।
राम देव मोरे पाहुने आये
मैं जोबन में माती॥

इस आध्यात्मिक मिलन में कहीं अहं विनाश, कहीं रसास्वादन और कहीं तृप्ति की चर्चा है। इन बातों के लिए भी हठयोग के आधार पर अन्तर में उनके प्रकट होने, शून्य में आत्मा के स्नान करने या मानसरोवर में हंस के क्रीड़ा करने के उल्लेख हैं। प्रारम्भ में तो थोड़ा संकोच अवश्य होता है जैसे—

जा कारणि में ढूंढ़ता
सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला
लागि न सकौं पाइ॥

परन्तु अन्त में अद्वैतवाद की अन्तिम स्थिति में पहुँच कर साध्य से एकाकार होने की यह घोषणा भी है—

हम सब मांहि सकल हम मांहो।
हम थे और दूसरा नाही॥
तीन लोक में हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा॥
खट दरसन कहियत हम भेखा।

हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा ॥
हमही आप कबीर कहावा।
हमहीं अपना आप लखावा ॥

कबीर के रहस्यवाद में प्रतीकों का विशेष स्थान पारिभाषिक शब्द है। ये प्रतीक चार विभागों में विभक्त किए जा सकते हैं—

१. प्रकृति सम्बन्धी –

(अ) गगन, समुद्र, सरोवर, कुआ, उद्यान, बन, मृणाल, नलिनी, केला आदि।

(आ) जलचर : मछली आदि

(इ) स्थलचर : ऊंट, हाथी, भैंस, बैल, गाय, गधा, कुत्ता, हिरन, बिल्ली, खरगोश, चूहा, सर्प आदि।

(ई) नभचर : हंस, चकवा, मधुकर, कौवा, आदि।

२. पेशे सम्बन्धी—

संगीतज्ञ और उसको तंत्री, रासायनिक, रंगरेज और उसकी चूनर, बढ़ई और उसका चरखा, धोबी, कुम्हार, कलाल, बनजारा, आदि।

३. विवाह सम्बन्धी

४. विविध—

हाट, सवारी, हार इत्यादि।

इन प्रतीकों के संबध में पहली ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से अधिकतर हठयोग के विविध पारिभाषिक शब्दों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। दूसरी बात जो इन पर दृष्टि डालते ही आभासित होती है वह यह कि ये सामान्य जीवन से चुने गए हैं। अपनी स्थिति और वातावरण के अनुकूल कबीर ने उन्हें ग्रहण किया है। रहस्यवाद के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी में रवीन्द्रनाथ और महादेव

ने भी प्रतीकों को स्वीकार किया, परन्तु उनके प्रतीकों में एक प्रकार का राजस वातावरण विद्यमान है जैसे सम्राट के स्वर्ण रथ, सुवासित पथ, हीरे, मोती, नीलम आदि की कल्पनाएं। कबीर के भैंसा, ऊंट या कुत्ता, बैल, कौआ आदि के प्रतीकों को असंस्कृत और असुन्दर (crude) समझ कर टैगोर और श्रीमती वर्मा अपनी कल्पना-पटी पर भी लाने में एक प्रकार की विरक्ति का अनुभव करेंगे। टैगोर और महादेवी के सामने आज के अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक और नवयुवतियाँ हैं। कबीर के सामने अशिक्षित जनता थी जिसके बीच उन्होंने अपनी वाणी का प्रचार किया। यही कारण है कि उन्होंने नित्य-परिचित प्रतीकों को चुना। तीसरी बात इन प्रतीकों के सम्बन्ध में यह है कि इनमें से कोई प्रतीक अर्थहीन नहीं है। रासायनिक, कलाल, मछली, मृणाल आदि के प्रतीक तो बौद्ध तांत्रिकों और सिद्धों के द्वारा पहले से ही प्रयुक्त होते आ रहे थे। स्मरण रखना चाहिए कि कबीर का हठयोग उनकी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं, उनसे पहले के तांत्रिकों और गोरखपंथियों की उपासना पद्धति का सुधरे रूप में अनुकरणमात्र है। अतः ऐसे प्रतीकों में तो रूढ़ हो जाने से एक प्रकार की भावधारा बद्ध है ही। अन्य प्रतीक भी जनता में किसी न किसी भाव के पर्याय समझे जाते हैं। ऊंट व्यर्थ बलबलाता है, बैल, गधा और भैंस मूर्खता और आलस्य प्रदर्शित करते हैं, हंस विवेक और सिंह शक्ति का प्रतिनिधि हैं। अतः इनके प्रयोग से थोथेपन, अज्ञान, उज्ज्वल ज्ञान और दुर्दमनीय मन का रूप सामने आता है इसी प्रकार समुद्र, उद्यान, सरोवर आदि से जीवन की भावना जगती है। बिल्ली, चूहा सर्प, विनाशकारी वृत्ति लिए रहते हैं, अतः माया या पीड़ा देने वाली वृत्तियों से सम्बन्धित हैं। बढ़ई, धोबी, रंगरेज आदि चरखा बनाते, मैल दूर करते और वस्त्रों पर रंग देते हैं, अतः ईश्वर और गुरु के स्थानापन्न हो सकते हैं। बहुत से स्थानों पर स्वयं कबीर ने प्रतीक की व्याख्या करके या उनका सांग रूपक बाँध कर उनमें

अंतर्निहित भाव को स्पष्ट कर दिया है। इस सम्बन्ध में एक नहीं अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं—

१. (अ) बाजे जंत्र बजावै गुनी

रजगुन, सतगुन तमगुन तीन।
पंच तत्त लै साजा बीन॥

(आ) जंत्री जंत्र अनूपम बाजै।
ताका सबद गगन में गाजै॥
सुर की नालि, सुरति का तूंबा।
सतगुरु साज बनाया है॥

(२) मैं बुनि बुनि सिरानां हो राम।
नालि-करम नहीं ऊबरे॥

(३) सकल दुनीं में लोभ पियारा।
मूल ज राखै रे सोई बनिजारा॥

(४) एक बूंद भरि देइ राम रस।
ज्यूं भर देइ कलालो॥

(५) तुम गारड़ मैं विष का माता।
काहे न जिवावौ मेरे अमृत दाता॥
संसार भवंगम डसिले काया।
अरु दुख दारन व्यापै तेरी माया॥

(६) मैं डोरे डोरे जाऊंगा।
तो मैं बहुरि न भौजल आऊंगा॥

(७) अभि अन्तर मन रंग समाना।
लोक कहैं कबीर बौराना॥
रंग न चीन्हैं मूरख लोई।
जिहि रंग रंग रह्या सब कोई॥

(८) मन मेरो रहटा रसनां पुरइया।

हरि को नाऊं लै लै कारि बहुरिया ॥
(६) सेजै रहूं नैन नहीं देखों।
यह दुख कासौ कहूं हो दयाल ॥

यह बात नहीं है कि कबीर अपने चारों ओर एक रहस्य का वातावरण उत्पन्न करना न चाहते हों। धर्मगुरु के आसन पर बैठते ही व्यक्ति को एक प्रकार की अतिरिक्त गम्भीरता आ घेरता है। सम्भव है यह शिष्यों में श्रद्धा के वेग को उद्दीप्त करने के लिये भी आवश्यक हो। कबीर की ऐसी ललकार भरी पंक्तियाँ इस बात की परिचायक हैं—

(अ) अवधू सो जोगी गुरु मेरा।
जो या पद को करै निबेरा ॥
(आ) कहै कबीर या पद कौं बूझै।
ताकूं तीन्यों त्रिभुवन सूझै ॥

फिर भी प्रसंग की सहायता और थोड़े बुद्धि-निग्रह से कबीर के प्रतीक सम्बन्धी पदों का अर्थ खुल जाता है। उलटवासियों में भी जैसे मंछी रूखा चढ़ि गई (कुंडलिनी सुषुम्ना में प्रवेश कर रही है), नदो ने सिंधु सोख लिया (ज्ञान की धार में संसार का भान नष्ट हो गया) दुरूहता का सामना कबीर की कविता को सहानुभूति पूर्वक पढ़ने वाले जिज्ञासु को नहीं करना पड़ेगा। कुछ तो कबीर गम्भीर थे ही, पर सच यह है कि कुछ आलोचकों ने उनसे भी अधिक गम्भीरता का गहरा आवरण ओढ़ कर 'पर' का 'कौआ' कर दिया है।

———